तृतीय खण्ड

श्रीअरविन्द

अनुवादक का वक्तव्य

वेदरहस्यके इस तृतीय खडमें हम ऋग्वेदके दूसरे, छठे तथा कुछ प्रथम मडलके अग्निदेवताके सूक्तोका श्रीअरविंदकृत अर्थ व भाष्य दे रहे हैं। इसीलिये श्रीअरविंदकी अनुमतिसे इसका नाम 'अग्नि-स्तुति' रखा है। वेदार्थ करनेकी अपनी प्रणालीको समझानेके लिये श्रीअरविंद-का लिखा एक विस्तृत प्राक्कथन भी प्रारभमे दिया गया है। यह प्राक्कथन उनका वेदसबधी नवीनतम लेख है, क्योंकि यह अभी १९४६ मे उन्होंने लिखा था, ऐसे देखनेमे इसका महत्त्व और भी बढ जाता है।

लगभग ४० वर्ष पूर्व जब कि श्रीअरविंदने अपनी 'आर्य' नामक अग्रेजी मासिक पत्रिकामें The Secret of the Vedas नामक लेख-माला लिखी थी (जिसे कि हम वेद-रहस्यके प्रथम खडके रूपमे 'वेदका प्रतिपाद्य' नामसे पाठकोंको दे चुके हैं) और साथमे कुछ चुने हुए सूक्तों-का भाष्य—Selected Hymns—लिखा था (जिसे कि हम वेद-रहस्यके द्वितीय खडके रूपमे 'देवताओंका स्वरूप' नामसे दे चुके हैं) तथा अग्निके सूक्तोंकी भूमिकाके रूपमे एक उत्तम लेख लिखा था (जिसके कि मुख्य भागको हम इस पुस्तकमे श्रीअरविंदके प्राक्कथनके बाद दे रहे हैं), तभी श्रीअरविंदने यह योजना बनायी थी कि ऋग्वेदके दसों मडलोंके सभी अग्निदेवताक सूक्तोंका ऐसा भाष्य किया जाय जो कि मूल मत्रके समीपतम हो। वह भाष्य लिखना भी उन्होंने तभी प्रारभ कर दिया था, पर वह कहीं 'आर्य' पत्रिकामे भी, प्रकाशित नहीं हुआ था। गृत्समद, भरद्वाज, पराशर, परुच्छेप ऋषियोंके अग्निसूक्तोंका यही भाष्य इस पुस्तकमें प्रथम बार हम हिंदीमें प्रकाशित कर रहे हैं।

श्रीअरविंदने उस समय योजना तो ऐसी बनायी थी कि सारे ऋग्वेद-का ही शब्द प्रति शब्द अनुवाद किया जाय और उसमें स्थान-स्थानपर

तृतीय खण्ड

अग्नि-स्तुति

तृतीय खण्ड

अग्नि-स्तुति

विषय-सूची

प्राक्कथन

वेदके विषयमें परंपरा

वेद प्राचीन कालमें ज्ञानकी एक पवित्र पुस्तकके रूपमें आदृत था, यह अन्तःस्फुरित कविताका एक विशाल संग्रह माना जाता था, उन 'ऋषियों' की—द्रष्टाओं तथा मन्त्रोंकी—कृति माना जाता था जिन्होंने अपने मन द्वारा कुछ घड़कर बनानेकी जगह एक महान्, व्यापक, शाश्वत तथा अपौरुषेय सत्यको अपने प्रकाशित हुए हुए मनोंके अन्दर ग्रहण किया और उसे 'मन्त्र' में मूर्त्त किया, जिन्होंने ऐसे शक्तियुक्त मन्त्रोंको प्रकट किया जो साधारण प्रकारके नहीं किन्तु दिव्य स्फुरण तथा दिव्य स्रोतसे आये थे। इन ऋषियोंको जो नाम दिया गया था वह था 'कवि', जिसका कि अर्थ यद्यपि पीछेसे कोई भी कविता करनेवाला हो गया, पर उस समयमें इसका अर्थ था 'सत्यका द्रष्टा'। स्वयं वेद उन्हें कहता है 'कवयः सत्यश्रुतः'* अर्थात् वे द्रष्टा जो दिव्य सत्यको श्रवण करनेवाले थे, और स्वयं वेदको ही 'श्रुति' नामसे पुकारा गया था जिसका अर्थ 'इल्हाम हुई धर्म-पुस्तक' हो गया। उपनिषद्के ऋषियोंका भी वेदके विषयमें यही उच्च विचार था और वे अपने-आप जिन सत्योंको प्रतिपादित करती हैं उनकी प्रामाणिकताके लिये वेदका ही बार-बार साक्षी प्रस्तुत करती हैं और पीछे जाकर ये उपनिषदें भी 'श्रुति' के रूपमें—'इल्हामकी धर्म-पुस्तक' के रूपमें आदृत होने लगीं और पवित्र शास्त्रोंमें सम्मिलित कर ली गयीं।

---

*देखो ऋग्वेद ५-५७-८, ६-६२-६

प्राक्कथन

वेदके विषयमें परंपरा

वेद प्राचीन कालमें ज्ञानकी एक पवित्र पुस्तकके रूपमें आदृत था, यह अंतःस्फुरित कविताका एक विशाल संग्रह माना जाता था, उन 'ऋषियों' की—द्रष्टाओं तथा संतोंकी—कृति माना जाता था जिन्होंने अपने मन द्वारा कुछ घड़कर बनानेकी जगह एक महान्, व्यापक, शाश्वत तथा अपौरुषेय सत्यको अपने प्रकाशित हुए हुए मनोंके अंदर ग्रहण किया और उसे 'मंत्र' में मूर्त्त किया, जिन्होंने ऐसे शक्तियुक्त मन्त्रोंको प्रकट किया जो साधारण प्रकारके नहीं किन्तु दिव्य स्फुरण तथा दिव्य स्रोतसे आये थे। इन ऋषियोंको जो नाम दिया गया था वह था 'कवि', जिसका कि अर्थ यद्यपि पीछेसे कोई भी कविता करनेवाला हो गया, पर उस समयमें इसका अर्थ था 'सत्यका द्रष्टा'। स्वयं वेद इन्हें कहता है 'कवयः सत्यश्रुतः'* अर्थात् वे द्रष्टा जो दिव्य सत्यको श्रवण करनेवाले थे, और स्वयं वेदको ही 'श्रुति' नामसे पुकारा गया था जिसका अर्थ 'इलहाम हुई धर्म-पुस्तक' हो गया। उपनिषद्के ऋषियोंका भी वेदके विषयमें यही उच्च विचार था और वे अपने-आप जिन सत्योंको प्रतिपादित करती है उनकी प्रामाणिकताके लिये वेदकी ही बारम्बार साक्षी प्रस्तुत करती है और पीछे जाकर ये उपनिषदें भी 'श्रुति'के रूपमें—'इल्हामकी धर्म-पुस्तक'के रूपमें आदृत होने लगीं और पवित्र शास्त्रोंमें सम्मिलित कर ली गयीं।

---

*जैसे ऋग्वेद ५-५७-८, ६-४९-३

वेद-विषयक यह परम्परा ब्राह्मण-ग्रन्थोमे भी बराबर बनी रही है और याज्ञिक (कर्मकाण्डी) टीकाकारोके द्वारा प्रत्येक बातकी व्याख्या गाथात्मक तथा यज्ञ-क्रिया-परक कर दिये जानेपर भी तथा पण्डितोद्वारा ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्डका विभेदक विभाजन (जिसमे मन्त्रमात्रको कर्मकाण्ड तथा उपनिषदोको ज्ञानकाण्डमें ले लिया गया) कर दिये जानेपर भी, इस परम्पराने अपने-आपको कायम ही रखा। कर्मकाण्ड-विभागके अन्दर ज्ञान-विभागके इस प्रकार डुबा दिये जानेकी कठोर शब्दोमे भर्त्सना एक उपनिषद्में तथा गीतामे भी की गयी है किन्तु ये दोनो (उपनिषद् और गीता) वेदको ज्ञानकी पवित्र पुस्तकके रूपमें ही देखती है। यही नही किन्तु श्रुतिको (जिसमे वेदके साथ उपनिषदें भी समाविष्ट है) आध्यात्मिक ज्ञानके लिये परम प्रमाण तथा अभ्रान्त माना गया है।

तो क्या वेदविषयक यह परम्परा केवल गप्प और हवाई कल्पना है, या बिल्कुल निराधार बल्कि मूर्खतापूर्ण बात है? अथवा क्या यह तथ्य है कि वेदके पीछेके कुछ मन्त्रोमे उच्च विचारोका जो एक केवल क्षुद्र-सा भाग है, उसीके कारण यह परम्परा चली? क्या उपनिषदोंके निर्माताओने वैदिक ऋचाओपर वह अर्थ मढ दिया है जो कि यहा असलमें कही नही है, उन्होने अपनी कल्पनाके द्वारा तथा मनमौजी व्याख्याके द्वारा उसमेंसे वह अर्थ निकाल लिया है? आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् आग्रह करते है कि यह ऐसी ही बात है और आधुनिक भारतीय मनको भी उन्होने प्रभावित कर लिया है। इस दृष्टिकोणके पक्षमें यह तथ्य भी है कि वेदके ऋषि न केवल द्रष्टा थे, किन्तु वे गायक तथा यज्ञके पुरोहित भी थे, कि उनके गीत सार्वजनिक यज्ञोमें गाये जानेके लिये लिखे गये थे और वे निरन्तर ही प्रचलित क्रिया-कलापकी ओर निर्देश करते है और इन यज्ञ-विधियोंके बाह्य उद्देश्यो—उद्दिष्ट पदार्थों—जैसे धन, समृद्धि, शत्रुपर विजय आदिकी ही प्रार्थना करते प्रतीत होते है। सायण, वेदका वह महान् टीकाकार, हमें सदा ऋचाओके कर्मकाण्ड-सम्बन्धी अर्थको ही देता है। जहा आवश्यक हो जाय वही और वह भी परीक्षणात्मक विचारके तौरपर एक गाथात्मक या ऐतिहासिक अर्थको भी दे देता

है, पर कभी विरले ही वह अपनी टीकामें किसी उच्चतर अर्थको प्रदर्शित करता है। यद्यपि कभी-कभी वह किसी उच्चतर अभिप्रायकी झलक आ लेने देता है, या इस (उच्चतर अभिप्राय) को केवल एक विकल्पके रूपमें, मानो किसी याज्ञिक गाथात्मक व्याख्याके हो सकनेकी सभावनासे निराश होकर, विवश-सा होकर, प्रकट करता है। पर फिर भी वह वेदकी आध्यात्मिक रूपसे परम प्रामाणिकताको मानता है, इससे विमुख नही होता और नाही वह इस बातसे इन्कार करता है कि ऋचा-ओमें एक उच्चतर सत्य निहित है। यह उपर्युक्त बात हमारे आधुनिक कालतक बच रही है और पौर्वात्य विद्वानोद्वारा इसका प्रचार भी किया गया है।

पश्चिमी विद्वानोका मत

पश्चिमी विद्वानोने कर्मकाण्डीय परम्पराको तो सायणसे ले लिया, परन्तु अन्य बातोंके लिये इसको (सायणको) नीचे धकेल दिया। और वे अपने ढगसे शब्दोकी व्युत्पत्तिपरक व्याख्याको लेकर चलते गये, या अपने ही अनुमानात्मक अर्थोके साथ वैदिक मन्त्रोकी व्याख्या करते गये और उन्हें एक नया ही रूप प्रदान कर दिया, जो कि प्रायश उच्छृ-खल तथा कल्पनाप्रसूत था। वेदमें उन्होने जो कुछ खोजा, वह था भारतका प्रारम्भिक इतिहास, इसका समाज, सस्थाए, रीति-रिवाज तथा उस समयकी सभ्यताका चित्र। उन्होने भाषाओंके विभेदपर आधारित एक मत, एक परिकल्पनाको घडा, कि उत्तरके आर्योके द्वारा द्राविडी भारतपर आक्रमण किया गया था, जिसकी कि स्वय भारतीयोमें कोई स्मृति या परम्परा नही मिलती और जिसका कि भारतके किसी महा-काव्य या प्रमाणभूत साहित्यमें कही कुछ उल्लेखतक नही पाया जाता। उनके हिसाबसे वैदिक धर्म इसके सिवाय और कुछ नही कि यह प्रकृतिके देवताओकी पूजा है, जो सौर गाथाओंसे भरी हुई तथा यज्ञोंसे पवित्र की गयी है तथा एक याज्ञिक प्रार्थनाविधि है जो कि अपने विचारो तथा क्रिया-

ओमें पर्याप्त आरभकालिक है और ये जगली प्रार्थनाए ही है, जो कि वहुप्रशसित, इतना महिमायुक्त बनाया हुआ तथा दिव्यत्वापादित वेद है।

देवताओका रूपपरिवर्तन और वेद

इसमें कोई सदेह नही हो सकता कि आरभमें भौतिक जगत्की शक्तियोकी पूजा होती थी जैसे **सूर्य**, **चन्द्रमा**, **द्यौ** और **पृथ्वी**, **वायु**, **वर्षा** और आधी आदिकी, पवित्र नदियोकी तथा अनेक देवोकी, जो प्रकृतिकी क्रियाओका अधिष्ठातृत्व करते है। प्राचीन पूजाका ग्रीसमें, रोममे, भारतमे तथा अन्य पुरातन जातियोमे यही सामान्य स्वरूप था। परन्तु इन सभी देशोमें इन देवताओने एक उच्चतर, एक आन्तरिक या आध्यात्मिक व्यापार ग्रहण करना आरम्भ कर दिया था। पलास एथिनी (Pallas Athene), जो कि आरभमें जीस (Zeus) के सिरसे, आकाश-देवतासे, वेदके '**द्यौ**'से ज्वालामय रूपमें उद्भृत होनेवाली **उषा** देवता रहा होगा, प्राचीन अभिजात ग्रीसमें एक उच्चतर व्यापारको करनेवाला देवता हो गया और रोमन लोगो द्वारा अपने मिनर्वा (Mıneıva) के, विद्या और ज्ञानकी देवताके साथ एक कर दिया गया था। इसी तरह सरस्वती, एक नदी देवता, भारतमें ज्ञान, विद्या, कला और कौशलकी देवी हो जाती है। सभी ग्रीस देवताए इस दिशामे परिवर्त्तनको प्राप्त हुई है—अपोलो (Apollo), सूर्य देवता, कविता तथा भविष्यवाणीकी देवता हो गयी है, हिफास्टस (Hıphaestus), अग्नि देवता, दिव्य कारीगर, श्रमका देवता हो गया है। पर भारतमें यह प्रक्रिया अधबीचमें रुक गयी और यहा वैदिक देवोने अपने आन्तरिक या आध्यात्मिक व्यापारोको तो विकसित किया, किन्तु अपने बाह्य स्वरूपको भी अधिक स्थिरताके साथ कायम रखा और उच्चतर प्रयोजनोंके लिये एक नयी ही देवमालाको जन्म प्रदान किया। उन्हे उन पौराणिक देवताओको प्राथमिकता देनी थी जो कि यद्यपि अपने पहले साथियोमेंसे ही विकसित हुए थे परन्तु जिन्होने अधिक विस्तृत विश्व-व्यापारोको धारण किया था, अर्थात् **विष्णु**, **रुद्र**, **ब्रह्मा** (जो

कि वैदिक बृहस्पति, या ब्रह्मणस्पतिसे विकसित हुआ), शिव, लक्ष्मी और दुर्गा। इस प्रकार भारतमें देवताओमें परिवर्तन कम पूर्ण रहा। पहलेकी देवताए पौराणिक देवमालाकी क्षुद्र देवताए वन गयी और इसका प्रमुख कारण ऋग्वेदका पुनरुज्जीवन होना था, क्योकि वेदमें देवताओके आध्यात्मिक व्यापार तथा वाह्य व्यापार दोनो एक माथ विद्यमान थे और दोनोपर ही पूरा वल दिया गया था। ग्रीस और रोमके देवताओके प्रारभिक स्वरूपोको सुरक्षित रखनेवाला इम तरहका (वेद जैसा) कोई साहित्यिक लेखा वहा नही था।

रहस्यवादी

देवताओमें इस परिवर्त्तनका कारण प्रत्यक्ष ही इन सव आदिकालीन जातियोमें सास्कृतिक विकासका हो जाना था, क्योकि ये जातिया क्रमश अधिकाधिक मानसिकतापन्न और भौतिक जीवनमें कम-कम रत रहनेवाली होती गयी। ज्यो-ज्यो इन्होने सभ्यतामें प्रगति की और अपने धर्ममें तथा अपने देवताओमें ऐसे सूक्ष्मतर एव परिष्कृततर पहलुओको देखनेकी आवश्यकता अनुभव की, जो कि उनके अधिक उच्चतया मानसिकताप्राप्त विचारो तथा रुचियोको आश्रय दे सके और उनके लिये एक सच्ची आध्यात्मिक सत्ताको या किसी दैवी मूर्त्तिको, उनके अवलम्वन और प्रमाणके रूपमें, उपलव्ध कर सके, प्राप्त कर सके। परन्तु इम अन्तर्मुखी प्रवृत्तिको निर्वारित करनेमें और इसे ग्रहण करनेमें सवमे अधिक भाग लेनेका श्रेय **रहस्यवादियो**को दिया जाना चाहिये, जिनका कि इन आदि सभ्यताओपर वहुत अधिक प्रभाव पडा था। नि मदेह प्राय सव जगह ही एक रहस्यमयता का युग रहा है जिसमें कि गभीरतर ज्ञान और आत्मज्ञान रखनेवाले लोगोने अपने अभ्यास-साधन, अर्थपूर्ण विधिविधान तथा प्रतीकोको स्थापित किया था, एव अपने अपेक्षाकृत आदिकालीन वाह्य धर्मोके अन्दर या उनके एक सिरेपर गुह्यविद्याको रखा था। इस (रहस्यवाद)ने भिन्न-भिन्न देशोमें भिन्न-भिन्न रूप धारण किया। ग्रीसमें

औफिक तथा एलुसीनियन रहस्य थे, मिश्र और खाल्दियामे पुरोहित तथा उनकी गुह्यविद्या और जादू थे, ईरानमें मागी तथा भारतमे ऋषि थे। ये रहस्यवादी आत्मज्ञान तथा गभीरतर विश्वज्ञान पानेमें निमग्न रहे, इन्होने खोज निकाला कि मनुष्योमें एक गभीरतर आत्मा और अन्तरतर सत्ता है जो कि बाह्य भौतिक मनुष्यके उपरितलके पीछे छिपी है और उसे ही खोजना और जानना उसका सर्वोच्च कार्य है। 'तू अपने-आपको जान' यह उनकी महान् शिक्षा थी, जैसे कि भारतमें स्वको, आत्माको जानना महान् आध्यात्मिक आवश्यकता, मनुष्यके लिये सर्वोच्च वस्तु हो गयी थी। उन्होने विश्वके बाहरी रूपोके पीछे एक सत्यको, एक वास्तविकताको भी जाना था और इस सत्यको पा लेना, उसका अनुसरण करना तथा इसे सिद्ध करना उनकी महती अभीप्साका विषय था। उन्होने प्रकृतिके रहस्यो तथा शक्तियोको खोजा था जो कि भौतिक जगत्-के रहस्य और शक्तिया नही थी परन्तु जिनके द्वारा भौतिक जगत् तथा भौतिक वस्तुओपर गुप्त प्रभुत्व प्राप्त किया जा सकता था और इस गुह्य विद्या तथा शक्तिको व्यवस्थित रूप देना भी इन रहस्यवादियोका एक प्रबल कार्य था, जिसमें कि वे व्यस्त रहते थे। परन्तु यह सब सुर-क्षिततया किया जा सकता था केवल एक कठोर और प्रमादरहित प्रशिक्षणद्वारा, नियन्त्रणद्वारा, प्रकृतिशोधनद्वारा। यह साधारण मनुष्य-द्वारा नही किया जा सकता था। यदि मनुष्य बिना कठोरतापूर्वक परखे हुए और बिना प्रशिक्षण पाये हुए इन बातोमें पड जाय तो यह उनके लिये तथा अन्योंके लिये खतरनाक होता, क्योकि इस ज्ञानका, इन शक्तियोका दुरुपयोग किया जा सकता था, इनके अर्थका अनर्थ किया जा सकता था, इन्हें सत्यसे मिथ्याकी ओर, कल्याणसे अकल्याणकी ओर मोडा जा सकता था। इसलिये एक कठोर गुप्तता बरती जाती थी, ज्ञान पर्दे-की ओट गुरुसे शिष्यको पहुचाया जाता था। प्रतीकोका एक पर्दा रचा गया था जिसकी कि ओटमें ये रहस्यमय बाते आश्रय ग्रहण कर सकती थीं, बोलनेके कुछ सूत्र भी बनाये गये थे जो कि दीक्षितोद्वारा ही समझे जा सकते थे, जो कि अन्योको या तो अविदित होते थे या उन द्वारा एक

ऐसे बाह्य अर्थमे ही समझे जाते थे जिससे उनका असली अर्थ और रहस्य सावधानतापूर्वक छिपा बना रहता था। सब जगहके रहस्यवादका साराश यही था।

वेदोंके गुह्यार्थक होनेकी परपरा

भारतमें यह परपरा प्राचीनतम कालसे चली आ रही है कि वेदके ऋषि, कवि-द्रष्टा, उपर्युक्त प्रकारके थे, ऐसे थे जो कि महान् आध्यात्मिक और गुह्य ज्ञानसे युक्त थे, जहातक कि साधारण मानव-प्राणियोकी गति नही, होती ऐसे थे जिन्होने अपने इस ज्ञानको और अपनी शक्तिको एक गुप्त दीक्षाके द्वारा अपने वशजो तथा अपने चुने हुए शिष्योको पहुचाया था। यह मान लेना निरी कपोल-कल्पना होगी कि भारतमें चली आ रही यह उपर्युक्त परपरा सर्वथा निराधार है, एव अन्धविश्वास है जो कि एकदम या धीरे-धीरे एक शून्यमेंसे, विना कुछ भी आधारके, बन गया है। इस परपराका कुछ-न-कुछ आधार अवश्य होना चाहिये, वह चाहे कितना थोडा क्यो न हो या वह गाथाद्वारा तथा शताब्दियोंके उपचयद्वारा चाहे कितना बढा-चढा दिया गया क्यो न हो। और यदि वह ठीक है तो इन कविद्रष्टाओने अवश्य ही वेदमें अपने गुह्य ज्ञानकी, अपनी रहस्यमय विद्याकी कुछ-न-कुछ बाते व्यक्त की होगी और वेदमन्त्रोमें ऐसी कुछ वस्तु अवश्य विद्यमान होगी, वह चाहे गुह्य भाषाके द्वारा या प्रतीकोंके कौशलके पीछे चाहे कितनी सुगुप्त रखी हुई हो और यदि वह वहा विद्यमान है तो यह कुछ हदतक उपलभ्य भी होनी चाहिये। यह ठीक है कि बहुत पुरानी भाषा, लुप्तप्राय शब्द (यास्कने चार सौसे ऊपर शब्द गिनाये है जिनके कि अर्थ उसे ज्ञात नही थे) तथा एक कठिन और अप्रचलित भाषाशैलीके कारण वेदका अभिप्राय अधकारमें पड गया है, वैदिक प्रतीकोंके अर्थोंके (जिनके कि कोष व कुजी उन्हीके पास रहती थी) खोये जानेसे ये आनेवाली सततियोंके लिये दुर्बोध हो गये, जब कि उपनिषदोंके कालमें भी उस युगके

आध्यात्मिक जिज्ञासुओंको वेदके गुप्त ज्ञानमें प्रवेश पानेके लिये दीक्षा तथा ध्यान (योगाभ्यास) की शरण लेनी पडती थी तो बादके विद्वान् तो किंकर्तव्यविमूढ ही हो गये और उन्हे शरण लेनी पडी अटकलकी तथा वेदोकी बौद्धिक व्याख्या की जानेपर ही अपना ध्यान केंद्रित करनेकी या इन्हे गाथाओ तथा ब्राह्मण-ग्रंथोंके कथानको (जो कि स्वय प्राय प्रतीकात्मक तथा अस्पष्ट थे) द्वारा समझने-समझानेकी। किंतु फिर भी वेदके उस रहस्यको उपलब्ध करना ही एकमात्र उपाय है जिससे कि हम वेदके सच्चे अर्थ और वेदके सच्चे मूल्यको पा सकेगे। हमें यास्क मुनिके दिये संकेतको गभीरतापूर्वक ग्रहण करना चाहिये, वेदके अदर क्या है इस विषयमें हमें ऋषिके वर्णन कि ये "द्रष्टाका ज्ञान है, कवि-द्रष्टाके वचन हैं", स्वीकार करना चाहिये और इस प्राचीन धर्म-ग्रथके अर्थोंमें प्रवेश पानेके लिये जो कोई भी सूत्र प्राप्त कर सके उसे खोजकर पकडना चाहिये। यदि ऐसा न करेगे तो वेद सदाके लिये मुहरबद पुस्तक ही बने रहेगे, व्याकरण-विशारद, व्युत्पत्ति-शास्त्री या विद्वानोकी अटकले हमारे लिये इन मुहरबद कमरोको कभी खोल नही सकेगी।

क्योकि यह एक तथ्य है कि वेदविषयक यह परपरा कि प्राचीन वेदकी ऋचाओमें एक गुह्य अर्थ और एक रहस्यमय ज्ञान निहित है इतनी पुरानी है जितने कि स्वय वेद पुराने हैं। वैदिक ऋषियोका यह विश्वास था कि उनके मत्र चेतनाके उच्चतर गुप्त स्तरोंसे अत-प्रेरित हुए आये है और वे इस गुह्य ज्ञानको रखते है। वेदके वचन उनके सच्चे अर्थोंमें केवल उसीके द्वारा जाने जा सकते है जो कि स्वय ऋषि या रहस्यवेत्ता (योगी) हो, अन्योंके प्रति मत्र अपने गुह्य ज्ञानको नही खोलते। अपने चतुर्थ मडलके एक मत्र (४ ३ १६) में वामदेव ऋषि अपने-आपका इस रूपमें वर्णन करता है कि मैं अत-प्रकाशसे युक्त (विप्र), अपने विचार (मतिभि) तथा शब्दो (उक्थै) के द्वारा व्यक्त कर रहा हू पथप्रदर्शक या आगे ले जानेवाले (नीथानि), और गुह्य वचनोको (निण्या वचासि), ये द्रष्टृज्ञानके शब्द (काव्यानि) हैं जो कि द्रष्टा या ऋषिके लिये अपने आतर अर्थको बोलनेवाले (कवये

निवचना) हैं। ऋषि दीर्घतमा ऋचाओंके, वेद-मन्त्रोंके, विषयमे कहता है कि 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदु' अर्थात् 'ऋचाए रहती है उस परम आकाशमें, जो कि अविनाश्य व अपरिवर्तनीय है जिसमें कि सबके सब देव स्थित है' और फिर कहता है कि 'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' अर्थात् 'वह जो कि उसको (उस आकाशको) नही जानता वह ऋचासे क्या करेगा?' (ऋग्वेद १ १६४ ३९)। वह ऋषि आगे चार स्तरोका उल्लेख करता है जहासे वाणी निकलती है, जिनमेंसे तीन तो गुह्यतामें छिपे हुए है और चौथा स्तर मानवीय है, और वहीसे मनुष्योंके साधारण शब्द आते है, परतु वेदके शब्द और विचार उन उच्चतर तीन स्तरोंसे सबध रखते हैं (१ १६४ ४५)। इसी तरह अन्यत्र वेद (१० मडल ७१ सूक्त) में वेदवाणीको परम (प्रथम), वाणीका उच्चतम शिखर (वाचो अग्र), श्रेष्ठ तथा परम निर्दोष (अरिप्र) वर्णित किया गया है। यह (वेदवाणी) कुछ ऐसी वस्तु है जो कि गुह्यतामें छिपी हुई है और वहासे निकलती है और अभिव्यक्त होती है (प्रथम मन्त्र)। यह सत्यद्रष्टामे, ऋषियोमे, प्रविष्ट हुई है और इसे प्राप्त किया जाता है उनकी वाणीकी पद्धति (पदचिह्नो) का अनुसरण करनेके द्वारा (तीसरा मन्त्र)। परतु सब कोई इसके गुह्य अर्थमें प्रवेश नही पा सकते। वे लोग जो आतरिक अभिप्रायको नहीं जानते ऐसे है जो देखते हुए भी नही देखते, सुनते हुए भी नही सुनते, कोई विरला ही होता है जिसे कि वाणी चाहती हुई अपने आपको प्रकट कर देती है, जैसे कि सुन्दर वस्त्र पहने हुई पत्नी अपने पतिको (चौथा मन्त्र)। अन्य लोग जो कि 'वाणी' के—वेद-रूपी गौके—दूधको स्थिरतया पीनेमें असमर्थ होते हैं यू ही साथ-साथ फिरते है मानो वह गौ दूध देनेवाली है ही नही, उनके लिये वाणी ऐसे वृक्षके समान है जो फलरहित और पुष्परहित है (पाचवा मन्त्र)। वेदका यह सब कथन कितना स्पष्ट और यथार्थ है। इससे सदेहकी कुछ गुजायशके बिना, यह परिणाम निकलता है कि उस समय भी जब कि ऋग्वेद लिखा जा रहा था ऋचाओंके विषयमें यह माना जाता था कि

उनका कुछ गुप्त अर्थ है जो कि सबके लिये खुला नही है। सचमुच पवित्र वेद-मत्रोके अदर एक गुह्य और आध्यात्मिक ज्ञान था और उस ज्ञानके द्वारा ही, ऐसा माना जाता था, कोई मनुष्य सत्यको जान सकता था और एक उच्चतर अवस्थामे चढ सकता था। यह विश्वास कोई पीछेकी बनी परपरा नही था किंतु इस विश्वासको, सभवत, सभी ऋषि और प्रत्यक्षत दीर्घतमा तथा वामदेव जैसे श्रेष्ठतम ऋषियोमेंसे कुछ तो अवश्य रखते थे।

तो यह परपरा पहलेसे विद्यमान थी और फिर यह वैदिक कालके पश्चात् भी चलती गयी। एव हम देखते है कि यास्क मुनि अपने निरुक्तमे वेदकी व्याख्यामे अनेक सप्रदायोका उल्लेख करते है। एक याज्ञिक अर्थात् कर्मकाडीय व्याख्याका सप्रदाय था, एक ऐतिहासिक था जिसे गाथात्मक व्याख्याका सप्रदाय कहना चाहिये, एक वैयाकरणो तथा व्युत्पत्ति-शास्त्रियो, नैरुक्तोद्वारा एव नैयायिकोद्वारा व्याख्याका सप्रदाय और एक आध्यात्मिक व्याख्याका। यास्क स्वय घोषित करता है कि त्रिविध ज्ञान है, अतएव सब वेदमत्रोंके अर्थ भी त्रिविध होते है, एक अधियज्ञ या कर्मकाडिक ज्ञान, अधिदैवत अर्थात् देवतासबधी ज्ञान और अतमे आध्यात्मिक ज्ञान, परतु इनमें तीसरा आध्यात्मिक अर्थ ही वेदका सच्चा अर्थ है और जब यह प्राप्त हो जाता है तो शेष अर्थ झड जाते है या कट जाते है। यह आध्यात्मिक अर्थ ही है जो कि त्राण करने-वाला है, शेष सब बाह्य है और गौण हैं। वह आगे कहता है कि 'ऋषियोने सत्यको, वस्तुओंके सत्य धर्मको आतर दृष्टिद्वारा प्रत्यक्ष देखा था', कि पीछेसे वह ज्ञान तथा वेदका आतरिक अर्थ प्राय लुप्त होते गये और जो थोडेसे ऋषि उन्हे तब भी जानते थे उन्हे इसकी रक्षा शिष्योको दीक्षित करते जानेद्वारा करनी पडी और अतमें वेदार्थको जानने-के लिये बाह्य और बौद्धिक उपायोको जैसे निरुक्त तथा अन्य वेदाग, उपयोगमें लाना पडा। परतु तो भी, वह कहता है, 'वेदका सच्चा अर्थ प्रत्यक्षत जाना जा सकता है ध्यान-योग और तपस्याके द्वारा', और जो लोग इन साधनोको उपयोगमें ला सकते है उन्हे वेदज्ञानके लिये किन्ही

बाह्य सहायताओकी आवश्यकता नही है। सो यास्कका यह कथन भी पर्याप्त स्पष्ट और निश्चयात्मक है।

यह परपरा कि वेदमें एक रहस्यवादी तत्त्व है और वह भारतीय सभ्यता, भारतीय धर्म, दर्शन तथा सस्कृतिका मूल स्रोत है ऐतिहासिक तथ्यमे अधिक सगत है न कि यूरोपियनोका इस परपरागत विचारका उपहास करनेवाला मत। उन्नीसवी शताब्दीके यूरोपियन पडित जो कि एक भौतिकताप्रधान तर्कवादके युगके लेखक थे भारतजातिके इतिहासके विषयमें यह मानते थे कि यह एक प्रारभिक जगली या अर्द्ध-जगली अवस्थामेंसे हुआ विकास है, एक अपरिपक्व सामाजिक जीवन और धर्म और एक अधविश्वासोका समुदाय है, जो कि वुद्धि और तर्कके, कला, दर्शन तथा भौतिक विज्ञानके प्रारभिक उदय द्वारा और एक अधिक स्पष्ट और सयुक्तिक तथा अधिक तथ्यपरायण समझके द्वारा वनी वाह्य सभ्य सस्थाओके रीति-रिवाजो और आदतोका परिणाम-रूप था। सो वेद-विषयक यह परपरागत प्राचीन विचार उनके इस चित्रमें ठीक नही वैठ सकता था, उसे तो वे प्राचीन अधविश्वासपूर्ण विचारोका एक भाग और आदि जगली लोगोकी एक सहज भूल ही मानते थे। परतु हम अव भारतजातिके विकासके विषयमे अधिक ठीक-ठीक विचार वना मकते है। यह कहना चाहिये कि प्राचीन आद्यतर सभ्यताए अपने अदर भावी विकासके तत्त्वोको रखे हुए थी किंतु उनके आदिम ज्ञानी लोग वैज्ञानिक और दार्शनिक या ऊची बौद्धिक तर्कणा-शक्तिवाले लोग नही थे परतु रहस्यवादी थे, वल्कि रहस्य-पुरुष, गुह्यवादी, धार्मिक जिज्ञासु थे। वे जिज्ञासु थे वस्तुओंके पीछे छिपे हुए सत्य के, न कि वाह्य ज्ञानके। वैज्ञानिक और दार्शनिक पीछेसे आये, उनके पूर्ववर्ती तो रहस्यवादी थे और प्राय पाइयागोरस तथा प्लेटो जैसे दार्शनिक भी कुछ सीमातक या तो रहस्यवादी थे या उनके वहुतसे विचार रहस्यवादियोंसे लिये गये थे। भारतमें दार्शनिकता रहस्यवादियोकी जिज्ञासामेंसे ही उदित हुई और भारतीय दर्शनोने उनके (रहस्यवादियोंके) आध्यात्मिक ध्येयोंको कायम रखा तथा विकसित किया और उनकी पद्धतियोंमेंसे कुछको आगामी

भारतीय आध्यात्मिक शिक्षणमे तथा योगमें भी पहुचाया। वैदिक परपरा, यह तथ्य कि वेदमे एक रहस्यवादी तत्त्व है, इस ऐतिहासिक सत्यके साथ पूरी तरह ठीक बैठती है और भारतीय सस्कृतिके इतिहासमे अपना स्थान प्राप्त करती है। तो वेदविषयक यह परपरा कि वेद भारतीय सभ्यताके मूल आवार है न कि केवल एक जगली याज्ञिक पूजाविधि, केवल परपरासे कुछ अधिक वस्तु है, यह इतिहासका एक वास्तविक तथ्य है।

वेदोंके दोहरे और प्रतीकात्मक अर्थ

परतु यदि कही वेदमत्रोमे उच्च आध्यात्मिक ज्ञानके कुछ अग या उच्च विचारोसे पूर्ण कुछ वाक्य पाये भी जायें तो यह कल्पना की जा सकती है कि वे तो शायद वेदका केवल एक स्वल्पसा भाग है, जब कि शेष सब याज्ञिक पूजाविधि ही है, देवताओंके प्रति की गयी प्रार्थना या प्रशसाके मत्र है जो कि देवताओको यज्ञ करनेवालोपर ऐसे भौतिक वरदानोकी वर्षा करनेको प्रेरित करनेके लिये बोले जाते थे जैसे कि बहुतसी गौएँ, घोडे, लडाकू वीर, पुत्र, अन्न, सब प्रकारकी सपत्ति, रक्षा, युद्धमें विजय, या फिर आकाशसे वर्षाको ले आनेके लिये, सूर्यको बादलोमेंसे या रात्रिके पजसे छुडा लानेके लिये, सात नदियोके उन्मुक्त प्रवाहित होनेके लिये, दस्युओसे (या द्रविडियोसे) अपने पशुओंके छुडा लानेके लिये तथा अन्य ऐसे ही वरदानोके लिये जो कि उपरितलपर इस याज्ञिक पूजाके उद्दिष्ट विषय प्रतीत होते है। तो इसके अनुसार तो वेदके ऋषि ऐसे लोग होने चाहिये जो कुछ आध्यात्मिक या रहस्यमय ज्ञानवाले होगें किंतु वैसे उस युगके अनुकूल सभी साधारण प्रचलित विचारोके वशीभूत होगें। तो इन दोनो ही तत्त्वोको ऋषियोने अपने वैदिक सत्योमे घुला-मिलाकर रखा होगा और ऐसा मान लेनेसे कम-से-कम अशत इसका भी कुछ कारण समझमें आ जायगा कि वेदमें इतनी अस्पष्टता, बल्कि इतनी विचित्र और कभी-कभी तो हास्यजनक अस्तव्यस्तता क्यो है, जैसी कि

परपरागत भाष्योंके अनुसार वेदमें हमे दिखाई देती है। परतु यदि, इसके प्रति-कूल, वेदोमें उच्च विचारोका एक बहुत बडा समुदाय स्पष्ट दृष्टिगोचर होता हो, यदि मन्त्रोका बहुत बडा भाग या समूचेके समूचे सूक्त केवल उनके रहस्यमय स्व-रूप तथा अर्थोको ही प्रकट करनेवाले हो, और अतत यदि वेदमें आये कर्मकाण्डी तथा वाह्य व्यौरे निरतर ऐसे प्रतीकोका रूप धारण करते पाये जाते हो जैसे कि रहस्यवादियोद्वारा सदा प्रयुक्त किये जाते है और यदि स्वय सूक्तोंके अदर ही वैदिक शैलीके ऐसी ही होनेके अनेक स्पष्ट सकेत बल्कि कुछ सुस्पष्ट वचनतक मिलते हो, तव सव कुछ वदल जाता है। तव हम अपने सामने एक ऐसी महान् धर्मपुस्तकको पाते है जिसके कि दोहरे अर्थ है—एक गुह्य अर्थ और दूसरा लौकिक अर्थ, स्वय प्रतीकोका भी वहा अपना अर्थ है जो कि उन्हे गुह्य अर्थोका एक भाग, गुह्य शिक्षा तथा ज्ञानका एक तत्त्व वना देता है। सपूर्ण ही ऋग्वेद, शायद थोडेसे सूक्तोको अपवाद-रूपमें छोड-कर, अपने आतरिक अर्थमें वह महान् धर्मपुस्तक हो जाता है। साथ ही यह आवश्यक नही कि उसका वाह्य लौकिक अर्थ केवल पर्देका ही काम करे, क्योकि ऋचाए उनके निर्माताओ द्वारा शक्तिके ऐसे वचन मानी गयी थी जो न केवल आतरिक वस्तुओंके लिये किंतु वाह्य वस्तुओ-के लिये भी शक्तिशालिनी थी। शुद्ध आध्यात्मिक धर्मग्रथ तो केवल आध्यात्मिक अर्थोंमे अपना वास्ता रखता, किंतु ये प्राचीन रहस्यवादी साथ ही वे भी थे जिन्हे 'आकल्टिस्ट' (गुप्तविद्यावित्) कहना चाहिये, ये ऐसे थे जिनका विश्वास था कि आतर साधनोद्वारा आतरिक ही नही किंतु वाह्य परिणाम भी उत्पन्न किये जा सकते है, विचार और वाणीका ऐसा प्रयोग किया जा सकता है कि जिससे इसके द्वारा प्रत्येक प्रकारकी—स्वय वेदमें प्रचलित मुहावरेमें कहे तो 'मानुषी और दैवी' दोनो प्रकारकी —सिद्धि या सफलता प्राप्त की जा सकती है।

वैदिक शब्दोंके सीधे, स्वाभाविक, स्थायी अर्थ

परतु प्रश्न होता है कि गुह्य अर्थोका वह समुदाय वेदमें है कहा?

वह हमें तभी मिलेगा यदि हम ऋपियोद्वारा प्रयुक्त शब्दो और शब्द-सूत्रोको एक स्थिर तथा विलकुल सीधा अर्थ प्रदान करे, विशेपतया उन कुजी-रूप शब्दोको जो कि ऋषियोके सिद्धातोंके इस सारे भवनको उसकी केद्र-शिलाओकी तरह धारण करते हैं। ऐसा एक शब्द है महान् शब्द 'ऋतम्' अर्थात् सत्य। सत्य रहस्यवादियोकी खोजका केद्रीय विपय था, एक आध्यात्मिक या आतर सत्य, हमारे अपने आपका सत्य, वस्तुओका सत्य, जगत्का तथा देवताओका सत्य, हम जो कुछ है और वस्तुए जो कुछ है उन सबके पीछे विद्यमान सत्य। कर्मकाडी व्याख्यामे वैदिक ज्ञान के इस 'गुर' भूत शब्दकी व्याख्या व्याख्याकारकी सुविधा या मौजके अनुसार सभी प्रकारके अर्थोमें इसे लेकर की गयी है—'सत्य', 'यज्ञ', 'जल', 'गया हुआ' और 'अन्न' तक, और जो अनेक अवातर अर्थ किये गये है उनका तो कहना ही क्या है। यदि हम ऐसे ही अर्थ करेगे तब तो वेद-के साथ हमारे बरतनेमें कोई निश्चितता आ ही नही सकती। किंतु हम स्थिर रूपसे इस शब्दको वही प्रधान ('सत्य'का) अर्थ देकर देखें तो एक अदभुत किंतु स्पष्ट परिणाम निकलेगा। यदि हम वेदमें स्थिर रूपसे आनेवाले अन्य शब्दोके साथ भी ऐसे ही वर्ते, यदि हम उनका साधारण, स्वाभाविक और बिलकुल सीधा जो अर्थ है वही करे और वह अर्थ सतत रूपसे तथा स्थिर रूपसे करे, उनके अर्थोको लेकर इधर-उधर कूद-फाद न करे या उनको शुद्ध कर्मकाडी आशय देनेके लिये तोड़े-मरोडे नही, यदि हम कुछ महत्त्वपूर्ण शब्दोको जैसे 'क्रतु', 'श्रवस्' आदिको उनके वे आध्यात्मिक अर्थ देवे, जिनकी कि वे क्षमता रखते है और जो कि उनके अर्थ ऐसे सदर्भोमें जैसे कि तब, जब कि वेद अग्निको 'क्रतुर्हृदि' कहकर वर्णन करता है, नि सदेह हैं ही, तो यह परिणाम और भी अधिक स्पष्ट विस्तृत और व्यापक हो जायगा। और इसके अतिरिक्त यदि हम उन सकेतोका अनुसरण करे जो कि बहुतायतसे मिलते हैं, कई बार तो अपने प्रतीकोंके आतरिक अर्थोके विषयमें ऋषियोंके अपने सुस्पष्ट कथन ही मिल जाते हैं और यदि हम अर्थपूर्ण कथानको तथा रूपकोकी व्याख्या उसी अभिप्रायमें करे जिसपर कि वे बार-बार लौटकर आते है, जैसे वृत्र-

पर विजय तथा वृत्रो (उसकी शक्तियो) के साथ युद्ध, सूर्यकी, जलोकी और गौओकी पणियो तथा अन्य दस्युओंसे पुनर्मुक्ति, सपूर्ण ही ऋग्वेद अपने-आपको ऐसे सिद्धात तथा क्रियाकी पुस्तकके रूपमें प्रकट कर देगा, जो (सिद्धात तथा क्रिया) निगूढ, गुह्य, आध्यात्मिक है, ऐसे जैसे कि किसी भी प्राचीन देशके रहस्यवादियोद्वारा उपदिष्ट हुए हो सकते है परन्तु इस समय जो कि हमारे लिय केवल वेदमें ही उपलभ्य है। ये वहा जानबूझकर एक पर्देसे ढककर रखे हुए है, परतु पर्दा इतना घना नही है जितना कि हम प्रारभमें ही कल्पना करते है। हम केवल अपनी आखो-को जरा खोलकर देखना होता है और वह पर्दा जाता रहता है, वेद-वाणी, सत्य, वेद, मूर्त्त रूपमें हमारे सामने आ खडा होता है।

वेदके गुह्य वचन 'निण्या वचासि'

वेदके अनेक मत्र है, अनेक समूचे सूक्ततक है जो कि ऊपरसे ही एक रहस्यवादी अर्थको प्रकट करते है, स्पष्ट ही एक गुह्य प्रकारके वचन है, एक आतरिक अर्थ रखते है। जब कि ऋषि अग्निके विषयमें कहता है 'सत्यका चमकीला सरक्षक जो कि अपने निजी घरमें देदीप्यमान हो रहा है'[1] अथवा मित्र तथा वरुणके विषयमें या अन्य देवोंके विषयमें कहता है 'सत्यका स्पर्श करनेवाले और सत्यको बढानेवाले'[2] अथवा 'सत्यमें उत्पन्न हुए,'[3] तो ये एक रहस्यवादी कविके ही वचन है जो कि वस्तुओंके पीछे छिपे उस आतर सत्यके विषयमें विचार कर रहा है जिसके कि प्राचीन सत जिज्ञासु होते थे। तब वह बाहरी अग्नि-तत्त्वकी अधिष्ठातृ-देवता-भूत प्राकृतिक शक्तिका या कर्मकाण्डीय यज्ञकी अग्निका विचार नही कर रहा है। इसी तरह ऋषि सरस्वतीके विषयमें कहता है कि यह

---

[1]गोपामृतस्य दीदिविम्, वर्धमान स्वे दमे। (१-१-८)

[2]ऋतावृधौ ऋतस्पृशौ जैसे (१-२-८)

[3]ऋतजात जैसे (१-१४४-७)

सत्यके वचनोकी प्रेरयित्री[1] और ठीक विचारोंके जगानेवाली है या विचारोंसे समृद्ध है, कि सरस्वती हमे हमारी चेतनाके प्रति जगाती है या हमें सचेतन करती है, 'महान् समुद्रसे और हमारे] सब] विचारोको प्रकाशित कर देती है', तो निःसदेह यह नदी-देवता नही है जिसकी कि स्तुतिमें वह सूक्त बोला जा रहा है, ऋषि तो स्तुति, प्रार्थना कर रहा है अत प्रेरणाकी शक्तिमे, यदि उसे (नदी कहे तो) अत प्रेरणाकी नदीमे, सत्यकी वाणीसे, जो कि हमारे विचारोमे अपने प्रकाशको ला रही है, हमारे अदर उस सत्यकी, एक आतरिक ज्ञानकी, रचना कर रही है। सतत ही देवता अपने आध्यात्मिक व्यापारोंके साथ सामने आ जाते है, यज्ञ है एक बाह्य प्रतीक एक आतरिक कर्मका, देवो और मनुष्योके बीच एक आतरिक लेन-देनका, मनुष्य देता है, समर्पित करता है जो कुछ उसके पास है और बदलेमें उसे देवता देते है शक्तिके घोडोको, प्रकाशकी गौओको, अनुचर होनेके लिये बलके वीरोको, और इस प्रकार अधकार, वृत्रो, दस्युओ और पणियोकी सेनाओके साथ उसके युद्धमे उसे विजय प्राप्त कराते है। जब ऋषि कहता है "आओ हम चाहे युद्ध-अश्वसे या मनुष्यसे परे की बलकी वाणीसे सचेतन बनें" (२-२-१०), तो उसके वचन या तो रहस्यपूर्ण अर्थ रखते है या उनका कुछ भी सगत अर्थ नही है। इस पुस्तकमें ऋग्वेदके जिन अशोका अनुवाद दिया गया है उनमें भी ऐसे अनेक रहस्यमय मत्र है और अनेक समूचे सूक्त है जो कि, वे चाहे कितने रहस्यपूर्ण हो, बाह्य याज्ञिक रूपकके उस पर्देको, जिसने कि वेदके असली अभिप्रायको ढक रखा है फाड फेंक रहे हैं। ऋषि कहता है, 'विचारने हमारे लिये मानुषी वस्तुओको अमृतोंमें, बृहत् द्युलोकोमें पोषित किया है, यह विचार दूध देनेवाली धेनु है जो कि अपने आप अनेकरूप ऐश्वर्यको देती है' (२-२-९)—अनेक प्रकारके ऐश्वर्योंको, गौओको, घोडोको और अन्य जिसकी कि यज्ञकर्ता प्रार्थना करता है। स्पष्ट है यह कोई भौतिक ऐश्वर्य नही है, ऐसी वस्तु है जिसे कि विचार, मन्त्रमें मूर्त हुआ विचार,

[1] १–३–१०, ११, १२।

दे सकता है और यह उसी **विचार** का परिणाम है जो कि हमारी मानुषी वस्तुओको अमृतोमें, वृहत् द्युलोकोमें पोषित करता है। यहा संकेत दिया गया है दिव्यीकरण की प्रक्रियाका, महान् और प्रकाशमय ऐश्वर्योंके, यज्ञ-की आन्तरिक क्रियाद्वारा देवोंसे प्राप्त की गयी निधियोंके नीचे उतार लानेकी प्रक्रियाका, किंतु ऐसे शब्दोमें जो कि आवश्यकतया प्रच्छन्न है, पर फिर भी उसके लिये जो इन गुह्य वचनोको, इन 'निण्या वचासि'को, पढना जानता है काफी अर्थद्योतक है, 'कवये निवचना' है। और फिर **रात्रि** तथा **उषा** (उषासानक्ता), जो सनातन बहिनें है, जिनके विषयमें कहा गया है कि वे बुननेवाली दो आनदपूर्ण स्त्रियोंके समान है, जो कि हमारे पूर्णतायुक्त कर्मोंके तानेको एक यज्ञके रूपमें (यज्ञस्य पेश) बुन रही है सुदुघा है, (२-३-६)। फिर ये ऐसे ही वचन है जिनका रूप और अर्थ रहस्यवादी है, परतु यज्ञके आध्यात्मिक रूपको, और **गौके**, (प्रार्थित ऐश्वर्योंकि, महान् रयिकी बहुलताके) वास्तविक अर्थको बतलाने-वाला इससे अच्छा निश्चयात्मक कथन कठिनतासे ही मिलेगा।

प्रतीकोका पर्दा—दोहरे अर्थ

अपने आशयको प्रतीको तथा प्रतीकात्मक शब्दोद्वारा आवृत करने की आवश्यकता—क्योकि गुप्तता रखनी आवश्यक थी—के वश ऋषि-योने शब्दोंके दोहरे अर्थ नियत करनेकी विधिको अपनाया। यह ऐसी विधि है जिसे कि सस्कृत भाषामें सुगमतासे ग्रहण किया जा सकता है क्योकि वहा एक शब्द प्राय अनेक विभिन्न अर्थोंका वाचक होता है परतु उसका अगरेजी भाषामें अनुवाद करना सुगम नही है, प्राय ही असभव है। इस प्रकार "गौ" शब्द गायके अतिरिक्त 'प्रकाश' का या 'प्रकाशकी किरण' का भी वाचक है। यह कई ऋषियोंके नामोमें भी प्रयुक्त हुआ दीखता है, जैसे, 'गोतम' अर्थात् प्रकाशिततम, 'गविष्ठिर' अर्थात् प्रकाशमें स्थिर। वेदोक्त **गौवे** सूर्यके **गोयूथ** है जैसे ग्रीक गाथा-शास्त्र तथा रहस्यवादमें भी वर्णित है, ये है **सत्य** और **प्रकाश** और

ज्ञानके सूर्यकी किरणें। 'गौ' के इस अर्थको जो कि कुछ प्रकरणोमें स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होता है सर्वत्र ही स्थिरतया नियत रूपसे लगाया जा सकता है और इससे सुसगत अर्थ वनता जायगा। 'घृत' शब्दका अर्थ है घी, निर्मल किया हुआ मक्खन और यह याज्ञिक क्रियाके मुख्य साधनोमेंसे एक था, परतु घृतका अर्थ भी प्रकाश हो मकता है, 'घृ क्षरणदीप्त्यो' धातुसे यह वना है और यह इसी अर्थमे अनेक स्थलोपर वेदमें प्रयुक्त हुआ है। जैसे द्युलोक के अधिपति, इद्रके घोडोके विषयमें कहा है ये 'घृतस्नु'[1] है अर्थात् प्रकाशसे सने हुए—इसका निश्चय ही यह अर्थ नही कि वे घोडे जव दौडते थे तो उनसे घी चूता था, यद्यपि इसी 'घृतस्नु' विशेषण का यह अर्थ ही प्रतीत होता है जव कि यह उस अन्न-धान्यके लिये प्रयुक्त हुआ है जिसका कि यज्ञमें आकर भाग लेनेके लिये इद्रके घोडे आहृत किये गये है। स्पष्ट ही यज्ञके प्रतीकवादमें घृत शब्द—इस प्रकाशके अर्थके साथ घीके अर्थको जोडकर—दोहरे अर्थमें पयुक्त हुआ है। विचारकी या विचारके अभिव्यजक शब्दकी शुद्ध घीसे तुलना की गयी है, और 'धिय घृताची'जैसे प्रयोग (अर्थात् प्रकाशमय विचार या समझ) हमे मिलते है। इस पुस्तकमें दिये गये सूक्तोमें एक जगह (२–३–२) विचित्र वाक्य आया है जिसमे अग्निको यज्ञके पुरोहितके रूपमें पुकारा गया है कि वह हविको घृत चुवानेवाले मनसे (घृतप्रुषा मनसा) सिक्त करे और इस प्रकार धामो (स्थानो या स्तरो) को, एकैकश तीनो द्युलोकोको अभिव्यक्त

---

[1] सायण (यद्यपि वह कई स्थलोपर घृतको प्रकाशके ही अर्थमें लेता है) यहा घृतका अर्थ पानी (जल) करता है। वह यह समझता प्रतीत होता है कि वे (इद्रके) दिव्य घोडे बहुत थक गये थे और उनसे पसीनेका पानी चू रहा था। इसी तरह कोई प्रकृतिवादी व्याख्या करनेवाला यह तर्क कर सकता है कि क्योकि इद्र अंतरिक्षका देवता है इसलिये उस पुराने युगका कवि यह विश्वास रखता था कि वर्षा इद्रके घोडोका पसीना ही होती है।

करे तथा देवोको अभिव्यक्त करें[1]। परतु घी चुवानेवाला मन क्या होगा और घी चुवानेके द्वारा कैसे कोई पुरोहित देवताओको और त्रि-विध द्युलोकोको अभिव्यक्त कर सकता है? पर घृतके रहस्यमय तथा आतरिक अर्थको स्वीकार कीजिये और देखिये कि सब आशय स्पष्ट हो जाता है। ऋषि जो कहना चाहता है वह है 'प्रकाशको प्रसत करनेवाला मन', प्रकाशप्राप्त या प्रकाशित हुए मनकी निर्मलता लाने-की क्रिया। और यह कोई मनुष्य पुरोहित नही है और न ही यह भौतिक यज्ञका अग्नि है, किंतु एक आतरिक ज्वाला है, रहस्यमय द्रष्ट-सकल्प, कविक्रतु है और वह निश्चय ही इस प्रक्रियाद्वारा देवोंको और लोकोंको तथा सत्ताके सब स्तरोको अभिव्यक्त कर सकता है। यह हमें स्मरण रखना चाहिये कि वैदिक ऋषि न केवल सत थे किंतु वे द्रष्टा भी थे, वे ऐसे दिव्यदृष्टिसपन्न थे कि वस्तुओको अपने ध्यानमें आकृतियोंके रूपमें देखते थे, प्राय प्रतीकात्मक आकृतियोंके रूपमें जो कि किसी अनुभूतिकी पूर्ववर्ती या सहवर्ती हो सकती थी और इस अनु-भूतिको मूर्त रूपमें उपस्थित करते थे, उसके विषयमें पहलेसे बता सकते या इसे गुह्य मूर्ति प्रदान कर सकते थे। सो इस प्रकार वैदिक ऋषिके लिये यह सर्वथा सम्भव था कि वह एक साथ ही आन्तरिक अनुभूतिको और आकृतिके रूपमें इसकी प्रतीकात्मक घटनाको देख सके, निर्मलता-कारक प्रकाशके प्रवाहको और इस घृत (घी) को पुरोहित देव आन्त-रिक आत्म-हवि (जिसने कि उस अनुभूतिको जन्म दिया है) पर उडेल रहा है इस घटनाको एक साथ देख सके। यह बात बेशक पाश्चात्य मनको विचित्र लगेगी परन्तु भारतीय मनके लिये, जो कि भारतीय पर-म्पराका अभ्यस्त होता है या ध्यान तथा गुह्य दर्शनमें समर्थ है, पूरी तरह समझमें आने योग्य है। रहस्यवादी प्रतीकवादी होते थे और अब भी साधारणतया होते है, वे सब भौतिक वस्तुओ और घटनाओतकको आन्तरिक सत्यो तथा वास्तविकताओंके ही प्रतीक रूपमें देख सकते हैं,

---

[1]यह सायणकृत अनुवाद है जो कि सीधा शब्दोंमे ही निकलता है।

अपने वाह्य स्वरूपो, अपने जीवनकी वाह्य घटनाओ तथा अपने चारो तरफ जो कुछ है उसतकको। इससे एक वम्तु और उसके प्रतीकके विपयमें उनका तादात्म्यकरण या फिर साहचर्य-सम्बन्ध सहज हो जाता है, इमका अभ्यास पुष्ट हो जाता है।

वेदके अन्य स्थायी शब्दो और प्रतीकोंके अर्थकी भी इसी प्रकारकी व्याख्या की जानी उचित है। जैसे कि वैदिक 'गौ' (गाय) प्रकाशका प्रतीक है, वैसे वैदिक अश्व (घोडा) शक्तिका, आध्यात्मिक सामर्थ्यका, तपस्याके वलका प्रतीक है। जब ऋपि 'अश्व-रूपवाले और गौ जिनके आगे है ऐसे दान'[1] को अग्निसे मागता है तो वह वस्तुत कुछ सौ पचास घोडोंके समुदायको जिनके आगे कुछ गौवे चल रही है दान-रूपमें नही माग रहा होता, किन्तु वह मागता है आध्यात्मिक शक्तिके समुदायको जो कि प्रकाशद्वारा परिचालित है या 'किरण-गौ जिसके आगे-आगे[2] चल रही हो', ऐसा अनुवाद हम 'गोअग्र' का कर सकते है। जैसे कि एक सूक्तमें पणियोसे मुक्त किये गये किरणोंके समुदायको 'गव्यम्' (गौवे, चमकीला गोयूथ) कहा गया है, वैसे दूसरे सूक्तमें अग्निसे 'अश्व्यम्' (अश्वकी शक्ति, वहुतायत या समुदाय) की प्रार्थना की गयी है। इसी तरह ऋषि कभी वीरोकी या अपने अनुचर योद्धाओकी प्रार्थना करता है तो कभी अपेक्षया अमूर्त भाषामे और विना प्रतीकके पूर्ण योद्धृबलकी 'सुवीर्य' की प्रार्थना करता है, कभी वह प्रतीक और वस्तुको जोड देता है। इसी तरह ऋषि पुत्र या पुत्रोकी या सन्तान 'अपत्य' की—देवताओसे वे जिस ऐश्वर्यकी प्रार्थना करते है उसके एक तत्त्वके रूपमें—याचना करता है, पर यहापर भी एक गुह्य अर्थ देखा जा सकता है, क्योकि कुछ सदर्भोमें हमारे उत्पन्न हुआ पुत्र स्पष्ट ही कुछ आन्तरिक जन्मका रूपक है अग्नि स्वय हमारा पुत्र होता है, हमारे कर्मोका अपत्य, वह सूनु जो कि **विश्वमय**

---

[1] गोअग्रा अश्वपेशस रातिम् (२-२-१३)।

[2] तुलना करो 'आर्य'को 'ज्योतिरग्र' कहा गया है—ज्योतिद्वारा नीयमान।

अग्निके रूपमें अपने पिताका भी पिता है, और यह अच्छे अपत्यवाली 'स्वपत्य' वस्तुओंपर पैर रखनेसे ही होता है कि हम सत्यके उच्चतर लोक-के पथको खोज लेते या उत्पन्न कर लेते हैं (१-७२-९)। फिर 'जल' भी वेदमें एक प्रतीकके तौरपर प्रयुक्त हुआ है। 'सलिल अप्रकेतम्' (जल ज्ञानरहित) यह निश्चेतन समुद्रके लिये कहा गया है जिसमें कि परमेश्वर निर्वर्तित हुआ हुआ है और जिसमेंसे वह अपनी महिमाद्वारा उत्पन्न होता है (१०-१२९-३)। 'महो अर्ण' (महान् समुद्र) कहा गया है ऊपरके जलोंके लिये जिसे कि—जैसा कि एक जगह (१-३-१२) आया है—सरस्वती हमारे लिये प्रचेतित कर देती है (प्रचेतयति) या हमें उससे सचेतन कर देती है अन्तर्ज्ञानकी किरणके द्वारा (केतुना)। प्रसिद्ध सात नदियोंके विषयमें ऐसा प्रतीत होता है कि ये उत्तर भारतकी नदियां हैं, परन्तु वेद वर्णन करता है सात महती दिव्य नदियोंका (सप्त यह्वी) जो कि द्युलोकसे नीचे उतरती हैं, ये ऐसे जल हैं जो कि जानते हैं, जो सत्यके ज्ञाता 'ऋतज्ञा' है और जब वे मुक्त होते हैं वे हमारे लिये महान् द्युलोकोंके पथको ढूंढ देते हैं। इसी तरह पराशर ऋषि ज्ञान तथा विश्व-व्यापी प्राणके विषयमें कहते हैं कि यह 'जलोंके घरमें' है। इन्द्र वृत्र-का वध करके वर्षाको मुक्त करता है, पर यह वर्षा भी दिव्य वर्षा है जो द्युलोकसे आती है और यह सात नदियोंको प्रवाहमान कर देती है। इस प्रकार जलोंकी मुक्तिकी गाथा जिसका कि वेदमें इतने अधिक स्थानों-पर वर्णन है एक प्रतीकात्मक कथाका रूप धारण कर लेती है। इसीके साथ दूसरी प्रसिद्ध प्रतीकात्मक गाथा आती है जिसमें कि पर्वतकी अंधेरी गुफामेंसे सूर्यके गोयूथके, गौओंके या सूर्यलोक 'स्व:'के देवताओं और अंगिरस ऋषिके द्वारा पुनःप्राप्ति और पुनरुद्धारका वर्णन है। सूर्यका प्रतीक सतत रूपसे उच्चतर प्रकाश और सत्यके साथ सम्बन्धित है यह एक निम्न कोटिके सत्यके द्वारा ढके हुए सत्यमें ही होता है कि सूर्यके घोडे खोल दिये जाते हैं यह अपने उच्चतम प्रकाशमें स्थित सूर्य ही है जिस-से कि महान् गायत्री मंत्रमें अपने विचारोंको प्रेरित करनेकी प्रार्थना की गयी है। इसी प्रकार वेदमें शत्रुओंके विषयमें कहा गया है कि ये लुटेरे

है, दस्यु हैं, जो गौओको चुरा लेते है या ये है वृत्र और वेदकी साधारण व्याख्यामें बिल्कुल मनुष्य शत्रु ही मान लिये गये हैं परन्तु वृत्र एक असुर है जो कि प्रकाश को ढकता है और जलोको रोके रखता है और वृत्र-लोग (वृत्रा) उसकी शक्तिया है जो कि उस व्यापारको सम्पन्न करती हैं। दस्यु अर्थात् लुटेरे या विनाशक है अधकारकी शक्तिया जो कि प्रकाश और सत्यके उपासकोका विरोध करनेवाली है। सदा ही वेद-में ऐसे सकेत विद्यमान है जो कि हमे वाह्य और ऊपरीसे एक आन्तरिक और गुह्य अर्थकी तरफ ले जाते है।

उपनिषदोकी वेदव्याख्याका एक उदाहरण

सूर्यके प्रतीकके सम्बन्धमें पचम-मडलस्य एक सूक्तके एक महत्त्वशाली और अत्यत अर्थपूर्ण मन्त्रका यहा उल्लेख कर देना ठीक होगा, क्योकि यह न केवल वैदिक कवियोंके गभीर रहस्यमय प्रतीकवादको दिखलाता है किंतु यह भी दिखलाता है कि उपनिषदोके रचयिताओने ऋग्वेदको कैसा ठीक समझा था और यह उनकी अपने पूर्वज (वैदिक) ऋषियोंके अन्त प्रेरित ज्ञान (वेद) में श्रद्धाको उचित ठहराता है। वेदमत्र[1] (५-६२-१) कहता है कि 'सत्यसे ढका हुआ एक सत्य है जहा कि वे सूर्यके घोडोको खोल देते है। दश शत इकट्ठे ठहरे वहा वह एक[2] था। मैंने सशरीर देवो-मेंसे महत्तम (श्रेष्ठ, सबसे अधिक महिमाशाली)को देखा[3]"। अब देखिये कि उपनिषदका ऋषि इस विचारको, इस रहस्यमय वचनको अपनी निजी पीछेकी शैलीमें किस प्रकार अनूदित करता है, वह सूर्यके केद्रीय प्रतीकको तो वैसा ही कायम रखता है परतु अर्थमें किसी प्रकार गुप्तता नही बर-तता। ईशोपनिषद्का वह वचन इस प्रकार है "सत्यका मुख ढका हुआ

---

[1]ऋतेन ऋतमपिहित ध्रुव वा सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान्।
दश शता सह तस्थुस्तदेक देवाना श्रेष्ठ वपुषामपश्यम्॥

[3]अथवा इसका अर्थ है 'मैंने देवोके शरीरोमेंसे महत्तम (श्रेष्ठ) को देखा'।

[2]अथवा वह (परम सत्य) एक था।

है एक सुनहरे पात्रसे, हे पूषन्, तू उसे हटा दे सत्यके नियम (धर्म) की दृष्टिके लिये[1]। हे पूषन् एक ऋषि, हे यम, हे सूर्य, हे प्रजापतिके पुत्र, अपनी किरणोका व्यूहन कर और उन्हे एकत्रित कर मैं उस प्रकाशको देखता हू जो कि तेरा वह उत्कृष्टतम (कल्याणतम) रूप है, यह जो पुरुष है वह मै हू"। सुनहरे पात्रसे मतलब वही है जो कि वेदमत्रमे कहे निम्न कोटिके आवरक सत्य, 'ऋतेन' का है। वेदमत्रका 'देवाना श्रेष्ठ वपुषा' उपनिषदके (सूर्यके) 'कल्याणतम रूप'के समान है, यह परम प्रकाश है जो कि सब बाह्य प्रकाशसे भिन्न है और बृहत्तर है। उपनिषदका महावाक्य 'सोऽहमस्मि' वेदके 'तदेक' (वह एक) के अनुरूप है। 'दशशतका इकट्ठा ठहरना' (सायण भी कहता है कि ये सूर्यकी किरणे है और यही प्रत्यक्षत अभिप्राय है) इसे ही उपनिषदकी सूर्यके प्रति की गई प्रार्थनामे "किरणोको व्यूहन करो और उन्हे एकत्रित करो (जिससे कि परम रूप दृष्टिगोचर हो सके)" इस रूपमे ले आया गया है। इन दोनो ही (वेद और उपनिषदके) सन्दर्भोमें, जैसे वेदमे सतत रूपसे ही और उपनिषदमें प्रायश, सूर्य परम सत्य और ज्ञानका अधिदेवता है और उसकी किरणें वह प्रकाश है जो कि उस परम सत्य और ज्ञानसे निकलता है। इस उदाहरणसे—और ऐसे और भी अनेक उदाहरण है—यह स्पष्ट है कि उपनिषदके ऋषिको अपने प्रभूत पाण्डित्य-सहित मध्यकालीन कर्मकाडी टीकाकारकी अपेक्षा प्राचीन वेदके अर्थ और अभिप्रायका अधिक सच्चा ज्ञान था और आधुनिक तथा बहुत भिन्न प्रकार के मनवाले योरोपियन विद्वानोकी अपेक्षा तो बहुत ही अधिक सच्चा।

कुछ शब्दोंके आध्यात्मिक अर्थ

कतिपय आध्यात्मिक शब्द है जिन्हे कि हमें सतत रूपमे उनके सच्चे ठीक अर्थमें लेना है यदि हमें वेदके आन्तरिक या गुह्य अर्थका पता लगाना अभीष्ट है। सत्य, 'ऋत', के अतिरिक्त, हमे 'धी' शब्दको जो कि मत्रो-

[1] अथवा सत्यके नियमके लिये, दृष्टिके लिये।

में वारवार प्रयुक्त हुआ है सदा 'विचार' इस अर्थमे लेना होगा। यही 'धी' शब्दका स्वाभाविक अर्थ है जो कि वादके 'वुद्धि' शब्दके अनुरूप है, इसका अर्थ है विचार, समझ, प्रज्ञा और वहुवचनमें 'अनेक विचार' (धिय)। इस शब्दके भी साधारण व्याख्याओमे सब प्रकारके अर्थ किये गये हैं— 'जल', 'कर्म', 'यज्ञ', 'अन्न' आदि, जैसे कि विचार भी। परतु हमे अपनी खोजमें इसे स्थिरतया इसके साधारण और स्वाभाविक अर्थ (विचार) मे ही लेना है और देखना है कि इससे क्या परिणाम निकलता है। 'केतु' शब्दका वहुत सामान्य अर्थ 'किरण' होता है परतु यह वुद्धि, निर्णय या बौद्धिक बोधका अर्थ भी रखता है। यदि वेदके उन वचनोकी हम तुलना करे जिनमें कि 'केतु' शब्द आया है तो हम इस परिणामपर पहुच सकते है कि इसका अर्थ वोधकी या अन्तर्ज्ञानकी किरण है, जैसे कि उदाहरणके तौरपर यह अन्त -स्फुरित ज्ञानकी किरणसे (केतुना) होता है कि सरस्वती हमें महान् समुद्रसे सचेतन करती है, उन किरणोका भी सभवत यही अभिप्राय है जो कि ऊपर **परम** आधारसे आती है और नीचेकी ओर प्रेरित की जाती है, ये हैं ज्ञानकी अन्त स्फुरणायें **सत्य और प्रकाश**के सूर्यकी किरणोंके रूपमें। एव 'क्रतु' शब्दका साधारण अर्थ है 'कर्म' या 'यज्ञ' परतु इसका अर्थ प्रज्ञा, वल या निश्चय और विशेषतया प्रज्ञाका वह वल जो कि कर्मका निर्धारण करता है, अर्थात् 'सकल्प' यह भी होता है। यह अन्तिम सकल्पका अर्थ है जिसमे कि हम इस शब्दको वेदकी गुह्य व्याख्या करनेमें ग्रहण कर सकते है। क्योकि अग्निको द्रष्टृसकल्प, 'कविक्रतु' कहा गया है, अग्नि 'हृदयका सकल्प' (क्रतुर्हृदि)[१] है। और अन्तमें 'श्रव' शब्द है, जो वेदमें सतत रूपसे आता है और जिसका अर्थ 'कीर्ति' है, टीकाकारोने इसे 'अन्न' अर्थमें भी लिया है, पर इन अर्थोंको सर्वत्र नही किया जा सकता है और वहुत करके इनसे कुछ बात नही वनती और वाक्यमें एकान्वयका वल नही आता परतु 'श्रवस्' 'श्रु श्रवणे' से (श्रु धातुसे जिसका अर्थ 'सुनना' है) वना है और स्वय 'कान' (श्रव-

[१]जैसे, ४-१०-१, ४-४१-१

णेद्रिय)के अर्थमे, तथा मत्र या प्रार्थनाके अर्थमें—और इस अर्थको सायण भी स्वीकार करता है—प्रयुक्त हुआ है और इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि इसका अर्थ 'सुनी हुई वस्तु' है या इसका परिणामभूत वह ज्ञान है जो श्रवणके द्वारा आता है। ऋषिगण अपने-आपको 'सत्यश्रुत' अर्थात् 'सत्यके सुननेवाले' कहते हैं और इस श्रवणद्वारा प्राप्त ज्ञानको 'श्रुति' नामसे पुकारते हैं। सो यह अन्त प्रेरणा या अन्त प्रेरित ज्ञानका अर्थ है जिसमें कि हम 'श्रव' शब्दको वेदकी गुह्य व्याख्यामें ले सकते हैं और हम देखते है कि ऐसा करनेसे यह पूर्ण सगतिके साथ सब जगह ठीक बैठता है। एव जब ऋषि 'श्रवासि' के विषयमें कहता है कि उन्हे ऊपरकी तरफ ले जाया जाता है और नीचेकी तरफ लाया जाता है तो यह 'अन्न' या 'कीर्ति' के विषयमें लागू नही हो सकता परतु यह बिल्कुल सगत और अर्थपूर्ण हो जाता है यदि ऋषि यह अन्त प्रेरणाओंके लिये कह रहा है कि वे ऊपर सत्यतक चढ जाती है और सत्यको नीचे हमतक ले आती है। यही पद्धति है जिसे कि हम वेदमे सर्वत्र लागू कर सकते है। परतु इस विषयको हम यहा और अधिक विस्तार नही दे सकते। इस प्राक्कथनकी लघु सीमाओंके अन्दर ये सक्षिप्त निर्देश ही पर्याप्त होने चाहियें, इन निर्देशोको देनेका यहा प्रयोजन यही है कि इनसे पाठकको वेदकी व्याख्याकी गुह्यार्थ-पद्धतिके विषयमें प्रारम्भिक अन्तर्दृष्टि, अन्त प्रवेशका ज्ञान दिया जा सके।

वेदका गुह्य आशय

तो फिर वह गुप्त अर्थ, वह गुह्य आशय क्या है जो कि वेदके इस प्रकारके अध्ययनके द्वारा निकलता है? यह वही है जिसकी कि हम सभी जगहके रहस्यवादियोकी जिज्ञासाके प्रकारसे अपेक्षा करेगे। और यह वह है जिसकी कि भारतीय सस्कृतिके विकासकी वास्तविक पद्धतिमे भी हमे अपेक्षा करनी चाहिये, अर्थात् आध्यात्मिक सत्यका प्रारम्भिक रूप, जिसने कि उपनिषदमें अपनी काष्ठाप्राप्तिको पाया। वेदका गुह्य ज्ञान ही वह चीज है जो कि पीछे जाकर वेदान्तके अदर विकसित हुआ। वह विचार,

जिसके कि चारो ओर शेष सब केंद्रित है, है सत्य, प्रकाश, अमरत्वकी खोज। एक सत्य है जो वाह्य सत्ताके सत्यसे गम्भीरतर और उच्चतर है, एक प्रकाश है जो कि मानवीय समझके प्रकाशसे वृहत्तर और उच्चतर है जो कि अत प्रेरणा तथा स्वत प्रकाशन (इलहाम) द्वारा आता है, एक अमरत्व है जिसकी कि तरफ आत्माको उठना है। इसके लिये हमें अपना रास्ता निकालना है, इस सत्य और अमरत्वके साथ स्पर्शमें आनेके लिये ('ऋत सपन्त अमृत'[1]), सत्यमें उत्पन्न होनेके लिये, उसमे बढनेके लिये, सत्यके लोकमें आत्मत आरोहण करने और उसमें निवास करनेके लिये। ऐसा करना परमेश्वरके साथ अपनेको युक्त करना है और मर्त्य अवस्थासे अमरत्वमें पहुच जाना है। यह वैदिक रहस्य-वादियोकी प्रथम और केंद्रीय शिक्षा है। प्लेटोके अनुयायी, जिन्होने अपने सिद्धातको प्राचीन रहस्यवादियोंसे लेकर विकसित किया था, मानते थे कि हम दो लोकोके सवधमें रहते हैं—एक उच्चतर सत्यका लोक जिसे कि आध्यात्मिक जगत् कहा जा सकता है और दूसरा जिसमें कि हम रहते है, शरीरधारी आत्माका लोक जो कि उच्चतर लोकसे ही निकला है किंतु जो उसका अवर कोटिके सत्य और अवर कोटिकी चेतनामें अवभ्रश है। वैदिक रहस्यवादी इस सिद्धातको अधिक मूर्त्त और अधिक व्यावहारिक रूपमें मानते थे, क्योकि उन्हे इन दोनो लोकोका अनुभव प्राप्त था। यहा इस लोकका एक अवर कोटिका सत्य है जो कि बहुतसे अनृत और भ्रातिसे (अनृतस्य भूरे ७–६०–५) मिश्रित है और वहा एक सत्यका घर या लोक (सदनम् ऋतस्य १–१६४–४७ ४–२१–३) है, 'सत्य ऋत बृहत्' है (अथर्व १२–१–१) जहा सब कुछ सत्य-सचेतन है, ऋत-चित् है (४–३–४)। त्रिदिव्-तक (त्रिविध द्युलोकोतक) बीचमें अनेक लोक हैं और उनके प्रकाश हैं परतु वह यह है उच्चतम प्रकाशका लोक, सत्यके सूर्यका लोक, स्वर्लोक या बृहत् द्यौ। हमें उस बृहत् द्यौको ले जानेवाले मार्गकी खोज

[1] १–६८–२

करनी है, सत्यके मार्गकी, 'ऋतस्य पथा'की या जैसे कि उसे कई वार कहा गया है 'देवोंके मार्ग'की। यह हुआ रहस्यवादियोका दूसरा सिद्धात। तीसरा सिद्धात यह है कि हमारा जीवन सत्य और प्रकाशकी, अमर देवोकी शक्तियो तथा अधकारकी शक्तियोंके बीच चलनेवाला युद्ध है। ये अवकारकी शक्तिया विविध नामोद्वारा पुकारी गयी है वृत्र या वृत्रा, व्रल, पणय, दस्यु तथा उनके राजगण। इन अवकारकी शक्तियोंके विरोधको नष्ट करनेके लिये हमें देवोकी सहायताकी पुकार करनी होती है क्योकि ये विरोधी शक्तिया हमारे प्रकाशको छिपा देती है या इसे हमसे छीन लेती है, क्योकि ये सत्यकी धाराओ, ('ऋतस्य धारा' ५-१२-२ तथा ७-४३-४) द्युलोककी धाराओंके वहनेमें वाधा डालती है और आत्माकी ऊर्ध्वगतिमे प्रत्येक प्रकारसे वाधक होती है। हमें आतरिक यज्ञके द्वारा देवताओका आवाहन करना है और शब्दके द्वारा उन्हे अपने अदर पुकार लाना है—ऐसा कर सकनेकी मत्र (शव्द) में विशेष शक्ति होती है—और उन्हें यज्ञकी हविकी भेंट अर्पण करना है और इस यज्ञिय दानके द्वारा उनसे आनेवाले प्रतिदानको सुरक्षित कर लेना है जिससे कि इस प्रक्रियाके द्वारा हम लक्ष्यकी तरफ अपने आरोहणके मार्गका निर्माण कर सके। वाह्य यज्ञके तत्त्वोको वेदमें आतरिक यज्ञ और आत्म-हवि (आत्म-समर्पण) के प्रतीकोंके रूपमें प्रयुक्त किया गया है, हम जो कुछ है और हमारे पास जो कुछ है उसे हम देते, प्रदान करते है जिससे कि दिव्य सत्य और ज्योतिके ऐश्वर्य हमारे जीवन में अवतरित हो सके और सत्यके अदर हमारे आतरिक जन्मके तत्त्व वन सके—एक सच्चा विचार, एक सच्ची समझ, एक सच्ची क्रिया हमारे अदर विकसित होनी चाहिये जो कि उस उच्चतर सत्यका विचार, प्रेरणा और क्रिया हो, 'ऋतस्य प्रेषा, ऋतस्य धीति' (१-६८-३) और इसके द्वारा हमे अपने-आपको उस सत्यके अदर निर्मित करना चाहिये। हमारा यज्ञ एक यात्रा है, तीर्थयात्रा है और एक युद्ध है—देवोंके प्रति गमन है और हम भी उस यात्राको करते हैं अग्निको आतरिक ज्वालाको, अपना मार्गशोधक और नेता (अग्रणी) वनाकर।

हमारी मानवीय वस्तुए उस रहस्यमय अग्निके द्वारा अमर सत्ताके अदर, बृहत् द्यौके अदर उठायी जाती हैं, उठाकर ले जायी जाती हैं और दिव्य वस्तुए हमारे अदर नीचे उतरकर आती है। जैसे कि ऋग्वेदका सिद्धात ही वेदातकी शिक्षाका बीज है, उसी तरह वेदका आतरिक अभ्यास और क्रिया ही पीछेके योगाभ्यास और योग-क्रियाका बीज है। और अतमें, वैदिक रहस्यवादियोकी शिक्षाके चरम शिखरके रूपमें है एक वस्तुसत्ताका रहस्य, 'एक सत्' (१–१६४–४६) या 'तत् एकम्' (१०–१२९–२), जो कि उपनिपद्का महावाक्य (केद्रीय वचन) बन गया। सब देव, प्रकाश और सत्यकी शक्तिया, है एक (देव) के नाम और शक्तिया, प्रत्येक देव स्वय सब देवता है और उन्हे अपनेमे रखे हुए है। वह एक सत्य है, 'तत् सत्यम्' (३–३९–५, ४–५४–४ तथा ८–४५–२७ इत्यादि) और एक आनद है जिसपर कि हमें पहुचना है। परतु फिर भी वेदमें यह अधिकतर पर्देके पीछेसे दिखायी देता है। इस विषयमें और भी बहुत कुछ वक्तव्य है परतु सिद्धातका सार, हार्द यही है।

वेदमत्रोका यह पूरा पूरा शब्दश अनुवाद तो नही है अपितु एक साहित्यिक अनुवाद ह। परतु इस अनुवादमें अर्थके प्रति, शब्दोके तथा विचार-रचनाके आशयके प्रति पूरी-पूरी निष्ठा रखी गयी है वस्तुत पद्धति ही यह बरती गयी है कि वास्तविक भापाका बिना कुछ भी नमक-मिर्च लगाये, बहुत सावधानतापूर्वक यथातथ अनुवाद करनेसे प्रारभ किया जाय और व्याख्याके आधारके रूपमे इसीका निरतर अनुसरण किया जाय, क्योकि केवल इसी प्रकारसे हम इन प्राचीन रहस्यवादियोंके वास्तविक विचारोका पता निकाल सकते है। परतु ऋग्वेदके सूक्तो जैसी महान् कविताका, जो कि अपने रग और आकृतियोमें शोभाशालिनी है, अपनी लयमें उदात्त और सुन्दर है, अपनी भाषाशैलीमें पूर्ण है, कोई भी अनुवाद—यदि उसे केवल एक मृत पाण्डित्य-कृति ही न रहना हो—उसकी काव्यशक्तिकी कम-से-कम एक मन्द-सी प्रतिध्वनिको करनेवाला तो होना ही चाहिये। इससे अधिक तो एक गद्य अनुवादमें और एक दूसरी भाषा-

में किया ही नही जा सकता। ऋषियोकी शैली और प्राकृतिक लेखनके भावकी कुछ सीमातक पहुचनेके लिये अनुवादकको सतत ही वेदके सकेन्द्रित वचनको एक अधिक शिथिल और अधिक विरल रूपमें ले आना होता है। अनुवादककी एक दूसरी बडी कठिनाई वेदमे सर्वत्र पायी जानेवाली द्व्यर्थकता है जिसमें कि एक ही शब्दद्वारा प्रतीक और प्रतीकसे अभिप्रेत वस्तु दोनो अभिहित होते हैं, जैसे प्रकाश-किरण और गौ, मनका निर्मल प्रकाश तथा साफ किया हुआ मक्खन (घृत), घोडे और आध्यात्मिक शक्ति। अनुवादकको ऐसी शब्दावलिका जैसे 'प्रकाशके गोयूथ' या 'चमकती हुई गौए' आविष्कार करना पडता है या अन्य ऐसी विधि प्रयोगमें लानी होती है जैसे किन्ही शब्दोको मोटे अक्षरोमें लिखना, मोटे अक्षरोमें 'घोडा' लिखनेसे यह पता लग जाता है कि यहा प्रतीकात्मक घोडा है जो कि अभिप्रेत है न कि साधारण घोडा नामक एक भौतिक पशु। परतु बहुत बार प्रतीकको छोड ही देना होता है या फिर प्रतीकको कायम रखा जाता है और उसके आन्तरिक अर्थको स्वय समझ लिया जायगा मानकर छोड दिया जाता है[1]। मैने अनुवादमें सब जगह एक ही शब्दावलि नही प्रयुक्त की है—उस एक ही आशयको प्रकट करते हुए भी, किंतु उसके अनुवादको उस उस स्थलविशेषके अनुसार विविध प्रकारसे किया है। प्राय मुझे मूलमत्रके पूरे भाव या रगतको प्रकट कर सकनेवाला (इगलिशका) ठीक उपयुक्त शब्द नही मिल सका है, मैंने एककी जगह दो शब्द प्रयुक्त किये है या एक शब्दावलि प्रयुक्त की है या फिर वेदवचनको ठीक-ठीक और पूरा अर्थ देनेके लिये कुछ अन्य उपायका आश्रयण किया है। इसके अतिरिक्त, बहुधा वेदमें उसके प्राचीन शब्दोका या भाषाके घुमावोका ऐसा प्रयोग हुआ है जिसका कि आशय वस्तुत ज्ञात नही होता है, उसका केवल अनुमान करना होता है या उसके दूसरे अनुवाद भी, उसी तरह ठीक, सभव हो सकते है। अनेक स्थलोपर मुझे

---

[1]ऋषि कई बार दो भिन्न अर्थोको एक ही शब्दमें सयुक्त करते प्रतीत होते है, मैंने यथावसर इस दोहरे अर्थको अनूदित करनेका यत्न किया है।

एक अस्थायी अनुवाद देकर छोड देना पडा है, विचार यह था कि उनका अन्तिम निर्णय उस समयतक स्थगित रहे जबतक कि वैदिक सूक्तोंके और अधिक बडे समुदायका अनुवाद न हो जाय और वह प्रकाशनके लिये तैयार न हो जाय, पर वह समय अभी आया नही है।

जनवरी १९४६ श्रीअरविन्द

वैदिक यज्ञ और देवताओंके रूपक*

इस यज्ञका रूपक कभी यात्राका या समुद्रयात्राका रूपक होता है, क्योकि यह (यज्ञ) चलता है, यह आरोहण करता है, इसका एक लक्ष्य —विशालता, वास्तविक अस्तित्व, प्रकाश, आनद—है और इसमे चाहा गया है कि यह अपने उस लक्ष्यपर पहुचनेके लिये एक उत्तम, सीधा और सुखमय मार्ग खोज निकाले और उसीपर चले,—यह है सत्यका कठिन किंतु आनदपूर्ण पथ। इसे, दिव्य सकल्पके जाज्वल्यमान बल-द्वारा नीयमान होकर, मानो पर्वतकी एक अधित्यकासे दूसरी अधित्यका-पर चढना होता है, इसे मानो एक पोतके द्वारा सत्ताके समुद्रको पार करना होता है, इसकी नदियोको लाघना, इसके गहरे गड्ढो और वेग-वती धाराओको अतिक्रमण करना होता है, इसका उद्देश्य होता है असीमता और प्रकाशके सुदूरवर्ती समुद्रपर पहुचना।

और यह कोई सरल या निष्कटक प्रयाण नही है। यह लबे समयोतक एक भयकर और क्रूर युद्ध होता है। निरतर ही आर्य-पुरुषको श्रम करना होता है और लडना होता है और विजय प्राप्त करनी होती है, उसे अथक परिश्रमी, अश्रात पथिक और कठोर योद्धा होना होता है, उसे एकके बाद एक नगरीका भेदन करना, आक्रात, करना और लुठन करना, एकके बाद एक राज्यको विजय करना, एक-के बाद एक शत्रुको पछाडना और उसे निर्दयतापूर्वक पददलित करना होता है। उसकी समग्र प्रगति एक सग्राम होता है देवो और दानवो-का, देवो और दैत्योका, इन्द्र और वृत्रका, आर्य और दस्युका। उसे

---

*'आर्य' में प्रकाशित 'अत्रियोंके मत्रो' की भूमिकामेंसे एक उद्धरण।

आर्योंके शत्रुओंसे सामना तो खुले क्षेत्रमे भी करना होता है, क्योकि पहलेके मित्र और सहायक भी शत्रु बन जाते है, आर्य राज्योंके राजा जिन्हे उसे जीतना और अतिलघन करना होता है, वे दस्युओंसे जा मिलते हैं और उसके मुक्त और पूर्ण अभिगमनको रोकनेके लिये चरम युद्धमें उसके विरोधमें जा खडे होते है।

परतु दस्यु है स्वाभाविक शत्रु। इन विभाजको, लुटेरो, हानि-कारक शक्तियो, इन दानवो, विभाजनकी माताके पुत्रो, को ऋषियोने कई सामान्य सज्ञाओद्वारा पुकारा है। ये है 'राक्षस', ये है **खानेवाले और हडप जानेवाले**, भेडिये (वृक) और चीर डालनेवाले, ये है क्षति पहुचानेवाले, घृणा करनेवाले, ये हैं द्वैध करनेवाले, ये है सीमित करने-वाले या निदा करनेवाले। पर ऋषि हमें कई विशेष नाम भी बताते हैं। उनमें 'वृत्र', वह सर्प, प्रधान शत्रु है, क्योकि वह अपनी अध-कारकी कुडलियोद्वारा दिव्य सत्ता और दिव्य क्रियाकी सब सभावना-को ही रोकता है, रुन्धन करता है। और जब प्रकाशके द्वारा वृत्रका वध कर दिया जाता है तो उसमेंसे उससे भी अधिक भयकर शत्रु उठ खडे होते है। **शुष्ण** है जो हमें पीडित करता है अपने अपवित्र और असिद्धिकर बलसे, **नमुचि** है जो कि मनुष्योंसे लडता है अपनी दुर्बल-ताओंके द्वारा, अन्य भी है जो आक्रमण करते हैं प्रत्येक अपनी निजी विशेष बुराईके साथ। और फिर है **बल और पणि**—इन्द्रिय-जीवनमें कृपण व्यवहार करनेवाले, उच्चतर **प्रकाश** और उसकी ज्योतियोको चुरानेवाले और छिपानेवाले जिन्हें कि वे केवल अधकारावृत और दुरु-पयुक्त ही कर सकते है—वे अशुचि समुदाय जो उनकी सपदाके ईर्ष्यालु होते है किंतु यज्ञ कर कभी देवोंको हवि प्रदान नही करना चाहते। ये तथा अन्य है व्यक्तित्व—ये केवल उनके व्यक्तित्वोपपादनमात्र नही हैं, उससे कही कुछ अधिक है—हमारी अज्ञानता, बुराई, दुर्बलता तथा कई सीमितताओंके व्यक्तित्व, जो कि मनुष्यपर सतत युद्धरत रहते हैं, ये उसे समीपतासे घेरे रहते हैं या ये उसपर दूरसे अपने तीर मारते रहते है अथवा यहातक कि ये उसके द्वारोवाले घरमें देवोंके स्थानमें

रहते हैं और अपने आकाररहित और हकलाते हुए मुखोद्वारा तथा अपने वलके अपर्याप्त नि श्वासके द्वारा उसके आत्म-अभिव्यजनको दूषित करते हैं। इन्हे निकाल वाहर करना होगा, इन्हें वशीभूत करना, वध करना, इनके नीचेके अधकारमे इन्हे धकेल देना होगा महान् और साहाय्यकारक देवताओकी सहायताके द्वारा।

वैदिक देवताए विश्वव्यापी देवताके नाम, शक्तिया और व्यक्तित्व है और वे दिव्य सत्ताके किसी विशेष सारभूत वलका प्रतिनिधित्व करती है। ये देव विश्वको अभिव्यक्त करते हैं और इसमें अभिव्यक्त हुए है। ये प्रकाशकी सतान, असीमताके पुत्र, मनुष्यकी आत्माके अदर अपने वधुत्व और सख्यको पहचानते हैं और उसे सहायता पहुचाना और उसके अदर अपने-आपको वढानेके द्वारा उसे वढाना चाहते हैं जिससे कि उसके जगत्को वे अपने प्रकाश, वल और सौदर्यके द्वारा अभिव्याप्त कर सके। देवता मनुष्यको पुकारते हैं एक दिव्य सख्य और साथीपनके लिये, वे उसे अपने प्रकाशमय भ्रातृत्वके लिये आकृष्ट करते और ऊपर उठाते हैं, वे अधकार और विभाजनके पुत्रोंके विरोध-में उसकी सहायता निमन्त्रित करते और अपनी सहायता उसे प्रदान करते हैं। वदलेमें मनुष्य देवताओको अपने यज्ञमें आहूत करता है, उन्हे अपनी तीव्रताओ और अपने वलोकी, अपनी निर्मलताओ और अपनी मधुरताओकी हवि भेंट करता है—प्रकाशमय गौके दूध और घीकी, आनदके पौधेके निचोडे हुए रसोकी, यज्ञके अश्वकी, अपूप और सुराकी, दिव्य-मनके चमकीले हरिओ (घोडो) के लिये अन्नकी भेंट चढाता है। वह उन्हे (देवोको) अपनी सत्तामें ग्रहण करता है और उनकी देनोको अपने जीवनमें, वह उन्हे मन्त्रोंसे और सोमरसोंसे वढाता है और उनके महान् तथा प्रकाशमय देवत्वोको पूर्णतया—'जैसे कि लोहार लोहेको घडता है', वेद कहता है—रचता है।

इस सव वैदिक रूपकको समझना हमारे लिये सुगम है, यदि एक वार हमें इसकी कुजी मिल जाय, परतु इसे केवल रूपकमात्र मान लेना गलती होगी। देवता निर्विशेष भावोंके, या प्रकृतिके मनोवैज्ञा-

निक और भौतिक व्यापारोके, केवल कवित्वकृत व्यक्तित्वोपपादन नही है। वैदिक ऋषियोके लिये वे सजीव वास्तविकताए है। मानव आत्माके उलट-फेर, अवस्थान्तर एक वैश्व सघर्षके निदर्शक होते है, न केवल सिद्धातो और प्रवृत्तियोके सघर्षके किंतु उनको आश्रय देनेवाली तथा उन्हे मूर्त्त करनेवाली वैश्व **शक्तियोंके** सघर्षके। ये वैश्व शक्तिया ही हैं **देव** और **दैत्य**। वैश्व रगमचपर और वैयक्तिक आत्मामें दोनो जगह वही वास्तविक नाटक उन्ही पात्रोंके साथ खेला जा रहा है।

* *

वे **देव** कौनसे है जिनका कि यजन करना है? वे कौन है जिनको कि यज्ञमें आवाहन करना है जिससे कि यह वर्द्धमान देवत्व मानव-सत्ताके अदर अभिव्यक्त हो सके और रक्षित रह सके?

सबसे पहला है **अग्नि**, क्योकि उसके बिना यज्ञिय ज्वाला आत्माकी वेदीपर प्रदीप्त नही हो सकती। **अग्नि** की वह ज्वाला है **सकल्प**की सप्तजिह्व शक्ति, **परमेश्वर**की **ज्ञान**से पेरित एक शक्ति। यह सचेतन (जागृत) तथा बलशाली सकल्प हमारी मर्त्यताके अदर अमर्त्य अतिथि है, एक पवित्र पुरोहित और दिव्य कार्यकर्त्ता है, पृथिवी और द्यौके बीच मध्यस्थता करनेवाला है। जो कुछ हम हवि प्रदान करते है उसे वह उच्चतर **शक्तियों**तक ले जाता है और बदलेमें उनकी शक्ति और प्रकाश और आनद हमारी मानवताके अदर ले आता है।

इन्द्र दूसरा पराक्रमी देव है जो कि शुद्ध **अस्तित्व**की, दिव्य मनके रूपमें स्वत अभिव्यक्त हुई शक्ति है। जैसे अग्नि एक ध्रुव है, ज्ञानसे आविष्ट **शक्ति**-रूपमें, जो अपनी धाराको ऊपर पृथ्वीसे द्यौकी तरफ भेजता है, तो **इन्द्र** दूसरा ध्रुव है, शक्तिसे आविष्ट **प्रकाश**-रूपमें, जो द्यौसे पृथ्वीपर उतरता है। वह उतरता है हमारे इस जगत्में एक पराक्रमी वीर योद्धाके रूपमें अपने चमकीले घोड़ोंके साथ, और अपनी विद्युतो, वज्रोंके द्वारा अधकार तथा विभाजनका हनन करता है, जीवन-दायक दिव्य जलोकी वर्षा करता है, **शुनी** (अतर्ज्ञान) की खोजके द्वारा

खोयी हुई या छिपी हुई **ज्योतियोंको** ढूढ निकालता है, हमारी मनो-मयताके द्युलोकमें सत्यके **सूर्यको** ऊचा चढ़ा देता है।

सूर्य—देव—है उस सत्यका स्वामी—सत्ताका सत्य, ज्ञानका सत्य, प्रक्रियाका, क्रियाका, गतिका, व्यापारका सत्य। इसलिये **सूर्य** है सव वस्तुओका स्रष्टा, वल्कि अभिव्यजक (क्योकि सर्जनका अर्थ है वाहर ले आना, सत्य और संकल्पके द्वारा प्रकट कर देना), और यह हमारी आत्माओका पिता, पोषक तथा प्रकाशप्रदाता है। जिन ज्योतियोको हम चाहते है वे इसी सूर्यके गोयूथ हैं, गौए हैं, जो सूर्य कि हमारे पास दिव्य उषाओंके पथसे आता है और हमारे अदर रात्रिमें छिपे पडे एक-के वाद एक जगत्को खोलता तथा प्रकाशित करता जाता है जवतक कि हमारे लिये सर्वोच्च, **परम आनदको** नही खोल देता।

इस आनदकी प्रतिनिधिभूत देवता **सोम** है। उसके आनदका रस (सुरा) छिपा हुआ है पृथिवीके उपचयोमें, पौधोमें और सत्ताके जलो-में, यहा हमारी भौतिक सत्तातकमें उसके अमरतादायक रस है और उनको निकालना है, सवन करना है और उन्हें सव देवताओको हवि-रूपमें प्रदान करना है, क्योकि सोमरसके वलसे ही ये देव वढेंगे और विजयशाली होवेगे।

इन प्राथमिक देवोमेंसे प्रत्येकके साथ अन्य देव जुडे हैं जो उसके अपने व्यापारसे उद्‌गत व्यापारोको पूरा करते है। क्योकि यदि **सूर्य**-के सत्यको हमारी मर्त्य प्रकृति में दृढतया स्थापित होना है तो कुछ पूर्ववर्ती अवस्थाए है जिनका हो जाना अनिवार्य है, एक वृहत् पवित्र-ता और स्वच्छ विशालता जो कि समस्त पाप और कुटिल मिथ्यात्व-की विनाशक है—यह है **वरुण** देव, प्रेम और समावेशनकी एक प्रकाश-मय शक्ति जो कि हमारे विचारो, कर्मो और आवेगोको आगे ले जाती और उन्हें सामजस्ययुक्त कर देती है,—यह है **मित्र** देव, सुस्पष्ट-विवेचनशील अभीप्सा तथा प्रयत्नकी एक अमर शक्ति, पराक्रम—यह है **अर्यमा**, सव वस्तुओका समुचित उपभोग करनेकी एक सुखमय स्वय-स्फूर्त्ति जो कि पाप, भ्राति और पीडाके दुःस्वप्नका निवारण करती है—

यह है **भग**। ये चारो सूर्यके सत्यकी शक्तिया है।

सोमका समग्र आनद हमारी प्रकृतिमे पूर्णतया स्थापित हो जाय इसके लिये मन, प्राण और शरीरकी एक सुखमय और प्रकाशमान और अविकलाग अवस्थाका होना आवश्यक है। यह अवस्था हमें प्रदान की जाती है युगल **अश्विनो**के द्वारा। **प्रकाश**की दुहितासे विवाहित, मधुको पीनेवाले, पूर्ण सतुष्टियोको लानेवाले, व्याधि और अगभगके भैषज्यकर्त्ता, ये **अश्विनौ** हमारे ज्ञानके भागो और हमारे कर्मके भागोको अधिष्ठित करते और हमारी मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक सत्ताको एक सुगम और विजयशाली आरोहणके लिये तैयार कर देते है।

इन्द्रके, **दिव्य मन**के, मानसिक रूपोंके निर्माताके तौरपर, सहायक होते है उसके शिल्पी, **ऋभुगण**। ये ऋभु है मानवीय शक्तिया जिन्होने कि यज्ञके सपादनसे और सूर्यके ऊचे निवासस्थानतक अपने उज्ज्वल आरोहणके द्वारा अमरत्वको प्राप्त किया है और जो अपनी इस सिद्धिकी पुनरावृत्ति किये जानेमें मनुष्यजातिकी सहायता करते हैं। ये मनके द्वारा इन्द्रके घोडोका निर्माण करते है, अश्विनौके रथका, देवताओंके शस्त्रोका, तथा यात्रा तथा युद्धके समस्त साधनोका। परतु **सत्यके प्रकाश**के प्रदाता तथा वृत्रहताके रूपमें **इन्द्र**के सहायक है **मरुत्**। ये **मरुत्** सकल्पकी तथा वातिक या प्राणिक बलकी शक्तिया है जिन्होने कि विचारके प्रकाश और आत्मप्रकटनकी गिराको प्राप्त किया है। ये समस्त विचार और वाणीके पीछे उसके प्रेरकके रूपमें रहते है और **परम चेतना**के **प्रकाश**, **सत्य** और **आनद**को पहुचनेके लिये युद्ध करते हैं।

और फिर स्त्रीलिगी शक्तिया भी है, क्योकि **देव पुरुष** और **स्त्री** दोनो है और देवता भी या तो सक्रिय करनेवाली आत्माए है या निष्प्रतिरोध रूपसे कार्य सपन्न करनेवाली और यथाक्रम विन्यास करनेवाली शक्तिया है। **अदिति**, देवोंकी असीम **माता** सबसे पहले आती है, और फिर उसके अतिरिक्त **सत्य चेतना**की पाच शक्तिया भी है—**मही** अथवा **भारती** है वह विशाल वाणी जो कि सब वस्तुओको दिव्य स्रोतसे हमारे लिये ले आती है, **इळा** है **सत्य**की वह दृढ आदिम वाणी जो

कि हमें इसके सक्रिय दर्शनको प्रदान करती है, **सरस्वती** है इस (सत्य) की वहती हुई धारा और इसकी अत प्रेरणाकी वाणी, **सरमा**, अत-र्ज्ञानकी देवी, है वह द्युलोककी शुनी जो कि अवचेतनाकी गुफामें उतर आती है और वहा छिपी हुई ज्योतियोको ढूढ लेती है, **दक्षिणा** है जिसका कि व्यापार होता है ठीक-ठीक विवेचन करना, क्रिया और हविका विनियोग करना तथा यज्ञमें प्रत्येक देवताको उसका भाग वितीर्ण करना। प्रत्येक देवकी भी अपनी-अपनी एक स्त्रीलिंगी शक्ति है।

इन सब क्रिया और सघर्ष और आरोहणके आधार है **द्यौ** हमारा **पिता** और **पृथिवी** हमारी **माता**, **देवोंके पितरौ**, जो कि क्रमश शुद्ध मानसिक एव आतरात्मिक चेतनाको तथा भौतिक चेतनाको वहन करते है। इनका विस्तृत और मुक्त अवकाश हमारी सिद्धिकी अवस्था है। **वायु**, प्राणका अधिपति, इन दोनोको अतरिक्ष, प्राणशक्तिके लोक, के द्वारा जोडता है। और फिर अन्य देवता भी है—**पर्जन्य**, द्युलोककी वर्षाको देनेवाला, **दधिक्रावा**, दिव्य युद्धाश्व, अग्निकी एक शक्ति, **आधारका रहस्यमय सर्प** (अहिर्बुध्न्य), त्रित आप्त्य जो कि भुवनके तीसरे लोकमें हमारी त्रिविध सत्ताको निष्पन्न करता, सिद्ध करता है, इनके अतिरिक्त और भी है।

इन सभी देवत्वोका विकास हमारी पूर्णताके लिये आवश्यक है। और वह पूर्णता हमें प्राप्त करनी चाहिये अपने सभी स्तरोपर—पृथ्वी-की विस्तीर्णतामें, हमारी भौतिक सत्ता और चेतनामें, प्राणिक वेग और क्रिया और उपभोगके तथा वातिक स्पदनके पूर्ण वलमे, जो कि **घोडे** (**अश्व**) के दृष्टातसे निरूपित किया गया है, जिस घोडेको कि हमें अपने प्रयत्नोको चढानेके लिये अवश्य वाहर निकालना चाहिये, भावमय हृदयके पूर्ण आनदमें और मनकी एक चमकीली उष्णता और निर्मलतामे, हमारी समस्त वौद्धिक और अतर्मानसिक सत्ताभरमे, अति-मानस **प्रकाशके** आगमनमें, **उषाके** तथा **सूर्यके** तथा **गौओकी ज्योतिर्मयी माताके** आगमनमें, जो कि हमारी सत्ताके रूपातर करनेके लिये आते है, क्योकि इसी प्रकार हम सत्यको अधिकृत करते है, सत्यके द्वारा

आनदकी अद्भुत महान् लहरको, आनदमे निरपेक्ष अस्तित्वकी असीम चेतनाको।

तीन महान् देवता, जो कि पौराणिक त्रिमूर्त्तिके मूल हैं, परम देव-की तीन बृहत्तम शक्तिया, इस क्रमोन्नतिको और इस ऊर्ध्वमुख विकास-को सभव बनाते है, ये हैं जो कि ब्रह्माडकी इन सब जटिलताओको, उसकी विशाल रेखाओमें और मूलभूत शक्तियोमे, धारण करते है। पहला ब्रह्मणस्पति है स्रष्टा, शब्दके द्वारा, अपने रवके द्वारा, वह सर्जन करता है—इसका अभिप्राय हुआ कि वह अभिव्यक्त करता है, सब अस्तित्वको और सब सचेतन ज्ञानको तथा जीवनकी गतिको और अतिम परिणत रूपोको निश्चेतनाके अधकारमेंसे बाहर निकालकर प्रकट कर देता है। फिर रुद्र, प्रचड और दयालु, ऊर्जस्वी देव, है जो कि अपने-आपको सुस्थित करनेके लिये होनेवाले जीवनके सघर्षका अधिष्ठाता है, वह है परमेश्वरकी शस्त्रसज्जित, मन्युयुक्त तथा कल्याणकरी शक्ति जो कि सृष्टिको जबर्दस्ती ऊपरकी ओर उठाती है, जो कोई विरोध करता है उस सबपर प्रहार करती है, जो कोई गलती करता है या प्रतिरोध करता है उस सबको चाबुक लगाती, जो कोई क्षत हुआ है और दुखी है और शिकायत करता है तथा अधीन होता है उस सबकी मरहम-पट्टी करती, उसे चगा कर देती है। तीसरा, विशाल व्यापक गति-वाला विष्णु है जो अपने तीन पाद-क्रमोमें इन सब लोकोको धारण करता है। यह विष्णु ही है जो कि हमारी सीमित मर्त्यताके अदर इन्द्रकी क्रिया होनेके लिये विस्तृत स्थान बनाता है, यह उसके द्वारा और उसके साथ ही होता है कि हम उसके उच्चतम पदोतक आरोहण कर पाते है जहा कि उस मित्र, प्रिय, परम सुखदाता देवको हम अपनी प्रतीक्षा करते हुए पाते हैं।

हमारी यह पृथ्वी जो कि सत्ताके अधकारमय निश्चेतन समुद्रमेंसे निर्मित हुई है, अपनी उच्च रचनाओको और अपने चढते हुए शिखरो-को द्युलोककी ओर ऊपर उठाती है, मनके द्युलोककी अपनी ही निजी रचनाए है, पर्जन्य हैं जो कि अपने विद्युत्-प्रकाशोको तथा अपने जीवन-

जलोको प्रदान करते है, निर्मलताकी तथा मधुकी धाराए नीचेके अव-चेतन समुद्रमेंसे उठकर ऊपर चढती हैं और ऊपरके अतिचेतन समुद्रको पहुचना चाहती है, और ऊपरसे वह समुद्र अपनी प्रकाशकी और सत्य-की और आनदकी नदियोको नीचेकी ओर, हमारी भौतिक सत्ताके अदर-तक भी, वहाता है। इस प्रकार भौतिक प्रकृतिके रूपकोके द्वारा वैदिक कवि हमारे आध्यात्मिक आरोहणका गीत-गान करते हैं।

वह आरोहण प्राचीनो, मानव-पूर्वपितरो, द्वारा पहले ही सपन्न किया जा चुका है और उन महान् पूर्वजोकी आत्मा अव भी अपनी सतानो-की सहायता करती है, क्योकि नवीन उषाए पुरानियोकी पुनरावृत्ति करनेवाली होती है तथा भविष्यकी उषाओंसे मिलनेके लिये प्रकाशमे आगे झुकती हैं कण्व, कुत्स, अत्रि, कक्षीवान्, गोतम, शुन शेप आदि ऋषि कुछ आध्यात्मिक विजय प्राप्त करके आदर्श स्थापित कर चुके है जिनकी वे विजये मानवजातिकी अनुभूतिमें सतत पुनरावृत्त होने-की प्रवृत्ति रखती है। सप्त ऋषि, वे अगिरस, मत्रगान करनेको उद्यत, अव भी और सदैव प्रतीक्षा कर रहे है कि गुफाको तोडे, खोयी हुई गौओको खोजें, छिपे हुए सूर्यको पुन प्राप्त करे। इस प्रकार आत्मा सहायता करनेवालो और हानि पहुचानेवालो, मित्रो और शत्रुओंसे भरा हुआ एक युद्धक्षेत्र है। यह सव सजीव है, भरपूर है, वैयक्तिक है, सचेतन है, सक्रिय है। यज्ञके द्वारा और शब्दके द्वारा हम अपने निज-के लिये प्रकाशयुक्त द्रष्टाओको, वीरोको अपने लिये लडनेको उत्पन्न करते है, सृष्ट करते है, जो कि हमारे कार्योके पुत्र होते है। ऋषि-वृद और देवता हमारे लिये चमकीली गौओको खोज लाते है, ऋभु-गण मनके द्वारा देवोंके रथोको और उनके घोडोको और उनके चमकते हुए शस्त्रोको निर्मित करते हैं। हमारा जीवन एक घोडा है जो कि हिनहिनाता हुआ और सरपट दौडता हुआ आगे-आगे और ऊपर-ऊपर हमे चढाये लिये जा रहा है, इसकी शक्तिया द्रुतगामी अश्व हैं, मनकी मुक्त हुई शक्तिया विस्तृत पखोवाले पक्षी है, यह मानसिक सत्ता या यह आत्मा ऊपरकी ओर उडनेवाला हस या श्येन है जो कि सैकडो

लोह-भित्तियोको तोडकर वाहर निकल आता है और आनद-धामके ईर्ष्यालु सरक्षकोंसे **सोमकी** सुरा को छीन लाता है। प्रत्येक प्रकाशपूर्ण परमेश्वरोन्मुख **विचार** जो कि हृदयकी गुप्त अगाध गहराइयोंसे निकलता है एक **पुरोहित** है और एक स्रष्टा है और वह प्रकाशमय सिद्धि तथा पराक्रमपूर्ण कृतार्थताके दिव्य गीतका गान करता है। हम सत्यके चमकीले सुवर्णको खोजते हैं, हम द्युलोककी निधिकी कामना करते है।

मनुष्यका आत्मा सत्ताओंसे भरा हुआ एक ससार है, एक राज्य है जिसमें परम विजय पानेके लिये या उसमें वाधाए डालनेके लिये सेनाए सघर्ष करती है, एक घर है जिसमें कि देवता हमारे अतिथि है और जिसे कि असुर अधिकृत कर लेना चाहते हैं, इसकी शक्तियोकी पूर्णता और इसकी सत्ताकी विशालता यज्ञके किसी स्थानको उसके स्वर्गीय अधिवेशनके लिये विस्तृत, व्यवस्थित और पवित्रीकृत कर देती है।

ये है वेदके मुख्य रूपकोमेंसे कुछ और है उन **पूर्व-पुरुषाओकी** शिक्षाकी बहुत सक्षिप्त और अपर्याप्त रूपरेखा। इस प्रकार समझा हुआ ऋग्वेद एक अस्पष्ट, गडबडसे भरा और जगली गीतावलि नही रहता, यह **मनुष्यजातिका** एक ऊची अभीप्सासे युक्त गीतपाठ वन जाता है, इसके सूक्त हैं आत्माकी अपना आरोहण करते हुए गाये जाती वीरगाथाके आख्यान।

कम-से-कम यह है, वेदमे और जो कुछ प्राचीन विज्ञान, लुप्त विद्या, पुरानी मनोभौतिक परपरा आदि हो वह अभी खोजना शेष ही है।

पराशर ऋषि के आग्नेय सूक्त

मंडल १

सूक्त ६५

(१)

पश्वा न तायु गुहा चतन्त नमो युजान नमो वहन्तम्।
सजोषा धीरा पदैरनु ग्मन्नुप त्वा सीदन् विश्वे यजत्रा ॥

[पश्वा न तायु] पशुके साथ जैसे कोई चोर वैसे दर्शनकी गौ (पशु) के साथ [गुहा चतन्त] गुप्त गुफामे छिपे हुए, [नम युजान] हमारी पूजाको अपने लिये लेते हुए [नम वहन्त] और उसे वहा पहुचाते हुए[1] तुझको [सजोषा धीरा] तुझमे मिलकर आनद लेते हुए विचारक लोग [पदै अनुग्मन्] तेरे पदचिह्नोंके अनुसार अनुगमन करते है, [विश्वे यजत्रा] सब यज्ञपति [त्वा उप सीदन्] तेरे समीप उस एकातमें पहुचते है।

(२)

ऋतस्य देवा अनु व्रता गुर्भुवत् परिष्टिर्द्यौर्न भूम।
वर्धन्तीमाप पन्वा सुशिश्विमृतस्य योना गर्भे सुजातम्॥

[देवा ऋतस्य व्रता अनुगु] देवगण उसके अनुसार सत्यके क्रियानियमोका अनुगमन करते है, [परिष्टि भुवत् द्यौ न भूम] वह सबको चारो तरफसे घेरता हुआ स्थित है जैसे कि द्यौ पृथिवीको। [आप ई सुशिश्वि पन्वा वर्धन्ति] जल आकारमें वढे हुए इसे अपने श्रम[2] द्वारा प्रवर्धित करते है [गर्भे ऋतस्य योनौ सुजातम्] जो अग्नि उनके गर्भमें, सत्यके घरमें, ठीक प्रकार जन्मा है।

(३)

पुष्टिर्न रण्वा क्षितिर्न पृथ्वी गिरिर्न भुज्म क्षोदो न शंभु।
अत्यो नाज्मन् त्सर्गप्रतक्त. सिन्धुर्न क्षोद क ईं वराते॥

[रण्वा पुष्टि न] वह रमणीय पुष्टिकी तरह है, [पृथ्वी क्षिति

---

[1]अथवा अधिक अच्छा है "हमारे समर्पणको स्वय लेते हुए और हमारे समर्पणको साथमें ले जाते हुए।"

[2]अथवा अपनी स्तुति द्वारा।

न] वह हमारे विस्तृत निवास-स्थान पृथ्वीकी तरह है। [गिरि न भुज्म] वह पर्वतकी तरह उपभोग्य है, [क्षोद न शभु] वह वहते हुए पानीकी तरह आनन्ददायक है। [अजमन् सर्गप्रतक्त अत्य न] वह युद्धमें खुलकर दौडाये हुए अश्वकी तरह है [क्षोद सिन्धु न] वह वहती हुई नदीकी तरह है, [ईं क वराते] इसे कौन वारण कर सकता है, रोक सकता है, ?

(४)

जामि सिन्धूना भ्रातेव स्वस्नामिभ्यान्न राजा वनान्यत्ति।
यद् वातजूतो वना व्यस्यादग्निर्ह दाति रोमा पृथिव्या ॥

[सिन्धूना जामि] वह नदियोका निकट साथी है [स्वस्रा भ्राता इव] जैसे अपनी वहनोका एक भाई। [इभ्यान् न राजा वनानि अत्ति] जैसे कि कोई राजा शत्रुओको वैसे वह पार्थिव वनोको खाता है। [यत् वातजूत वना व्यस्यात्] जव वह वायुके निश्वाससे प्रेरित हुआ हुआ वनोमें चारो तरफ विचरता है [अग्नि ह पृथिव्या रोमा दाति] तो यह अग्नि पृथिवीके शरीरके रोमोको काट डालता है।

(५)

श्वसित्यप्सु हसो न सीदन् क्रत्वा चेतिष्ठो विशामुपर्भुत्।
सोमो न वेधा ऋतप्रजात पशुर्न शिश्वा विभुर्दूरेभा ॥

[सीदन् हस न अप्सु श्वसिति] वह (जलमे) वैठे हुए हसकी तरह जलोंके अदर श्वास लेता है। [उपर्भुत् क्रत्वा विशा चेतिष्ठ] उप-कालमें जागनेवाला वह अपने कर्मोके सकल्पके द्वारा प्रजाओको चेताने-वाला, ज्ञानमे जगानेवाला है। [सोमो न वेधा ऋतप्रजात] वह सोम देवताकी तरह एक स्रष्टा है और सत्यमे उत्पन्न हुआ हुआ है। [पशु न शिश्वा] अपने नवजात वछडेके साथ एक गौके समान वह है। [विभु दूरेभा] वह विशाल-विस्तृत है और उसकी ज्योति दूरसे दिखायी देती है।

सूक्त ६६

(१)

रयिर्न चित्रा सूरो न सदृगायुर्न प्राणो नित्यो न सूनु ।
तक्वा न भूर्णिर्वना सिषक्ति पयो न धेनु शुचिर्विभावा ॥

[चित्रा रयि न, सूर न सदृक्] वह चित्र-विचित्र धनकी तरह है, और सूर्यकी तरह सब कुछ देखनेवाला है। [आयु न प्राण, नित्य सूनु न] वह मानो जीवन है और हमारी सत्ताका प्राण है, वह मानो हमारा शाश्वत पुत्र है। [तक्वा न भूर्णि] वह गतिमान् घोडा है जिसने कि हमको अपने ऊपर धारण किया हुआ है। [वना सिपक्ति] वह वनोसे ससक्त होता है, [धेनु पय न] वह गौ और उसके दूधके समान है। [शुचि विभावा] वह पवित्र-उज्ज्वल है और विस्तृत चमकवाला है।

(२)

दाधार क्षेममोको न रण्वो यवो न पक्वो जेता जनानाम् ।
ऋषिर्न स्तुभ्वा विक्षु प्रशस्तो वाजी न प्रीतो वयो दधाति ॥

[रण्व ओक न क्षेम दाधार] वह सुखदायक घरकी तरह हमारे सब क्षेमको धारण करता है। [पक्व यव न] वह पके हुए जौ (अनाज) की तरह है। [जनाना जेता] वह मनुष्योका विजेता है, [स्तुभ्वा ऋषि न] स्तुति गानेवाले एक ऋषिकी तरह है, [विक्षु प्रशस्त] लोगोमें इसकी ख्याति है, [प्रीत वाजी न] वह मानो हमारा हर्षयुक्त घोडा है, वेगरूपी घोडा, [वय दधाति] वह हमारे वृद्धि-विकासको धारण करता है।

(३)

दुरोकशोचि क्रतुर्न नित्यो जायेव योनावर विश्वस्मै ।
चित्रो यदभ्राट् छ्वेतो न विक्षु रथो न रुक्मी त्वेष. समत्सु ॥

[दुरोकशोचि] जिस घरमें वसना कठिन है ऐसे घरकी वह ज्योति है[1], [नित्य क्रतु न] वह हमारे अदर एक मदा-सक्रिय मकल्प की तरह है, [योनौ जाया इव, विश्वस्मै अरम्] वह हमारे घरमें पत्नीके समान है और प्रत्येक मनुष्यके लिये पर्याप्त है। [यत् चित्र अभ्राट्] जव वह अद्भुत-विचित्र प्रचण्डतया प्रदीप्त होता है तो [विक्षु श्वेत न] वह प्रजाओमें एक श्वेतकी तरह होना है। [रुक्मी रथ न] वह सुवर्णीय रथकी तरह है, [समत्सु त्वेष] हमारे युद्धोमें वह तेजोरूप है।

(४)

सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत् त्वेषप्रतीका।
यमो ह जातो यमो जनित्व जार कनीना पतिर्जनीनाम्॥

[सृष्टा सेना इव अम दधाति] वह धावा बोलती हुई सेनाकी तरह है और हममें वलको धारण कराता है [अस्तु त्वेषप्रतीका दिद्युत् न] वह धनुर्धारीके प्रदीप्तमुख ज्वालामय वाणकी तरह है। [यम ह जात यम जनित्वम्] वह युगल उत्पन्न हुआ है और युगल रूपमें ही वह वह है जो कि उत्पन्न होना है [कनीना जार, जनीना पति] वह कन्याओका प्रेमी है और माताओका पति है।

(५)

त वश्चराथा वय वसत्यास्त न गावो नक्षन्त इद्धम्।
सिन्धुर्न क्षोद प्र नीचीरैनोन्नवन्त गाव स्वर्दृशीके॥

[वय व चराथा वसत्या] हम तुम्हारी गतिके द्वारा और हम तुम्हारी स्थिति (ठहरने) के द्वारा [न इद्ध नक्षन्ते] उसे जव कि वह प्रदीप्त होता है इस तरह प्राप्त होते है [अस्त गाव न] जैसे अपने

---

[1] अथवा 'वह एक ऐसी ज्योति है जिसको सुलगाना, जलाना कठिन है'।

घरको गौवे प्राप्त होती है। [सिन्धु क्षोद न] वह उस नदीकी तरह है जो कि अपने पात्रमें वह रही है और [नीची प्र ऐनोत्] अवतरित हो रहे जलोको अपने आगे आगे भेजता है [गाव स्व दृशीके नवन्त] **किरण—गौवे,** सूर्यके लोककी अभिव्यक्तिमें[1], उसके पास आती है।

सूक्त ६७

(१)

यनेषु जायुर्मर्तेषु मित्रो वृणीते श्रुष्टिं राजेवाजुर्यम्।
क्षेमो न साधुः क्रतुर्न भद्रो भुवत् स्वाधीर्होता हव्यवाट्॥

[वनेषु जायु] वनोमें वह विजेता है [मर्त्तेषु मित्र] मनुष्योमें वह मित्र है [श्रुष्टिं वृणीते, राजा अजुर्यं इव] वह अन्त प्रेरणाको चुनता है जैसे कि कोई राजा जीर्ण न होनेवाले सलाहकारको चुनता है। [साधु क्षेम न] वह मानो हमारा पूर्ण क्षेम है[2], [भद्र क्रतु न स्वाधी] वह एक शुभ सकल्पकी तरह है जो कि अपनी विचारणामें ठीक है और वह [होता हव्यवाट भुवत्] हमारे लिये आवाहनका पुरोहित तथा हमारी आहुतिको वहन करनेवाला हो जाता है।

(२)

हस्ते दधानो नृम्णा विश्वान्यमे देवान् धाद् गुहा निषीदन्।
विदन्तीमत्र नरो धियंधा हृदा यत् तष्टान् मन्त्राँ अशंसन्॥

[विश्वानि नृम्णा हस्ते दधान] सब सामर्थ्योंको अपने हाथमें धारण किये हुए, [गुहा निषीदन् देवान् अमे धात्] वह गुप्त गुहामें बैठा हुआ देवोको अपने बलमें थामता है[3]। [अत्र धियधा नर ईं विदन्ति]

---

[1]अथवा 'जब कि सूर्य दृश्यमान होता है तब'।

[2]अथवा 'पूर्णत्व लानेवाली भलाई है'।

[3]या 'स्थापित करता है'।

यहापर विचारको अपने अदर धारण करनेवाले मनुष्य इसका ज्ञान प्राप्त कर पाते है [यत् हृदा तष्टान् मत्रान् अशसन्] जब कि वे हृदयसे रचित मत्रोका उच्चारण करते हैं।

(३)

अजो न क्षा दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्या मन्त्रेभि सत्यै ।
प्रिया पदानि पश्वो नि पाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुह गा ॥

[अज न] अजन्माकी तरह [पृथिवी क्षा दाधार] उसने विस्तृत पृथ्वीको धारण किया है, [सत्यै मत्रेभि द्या तस्तम्भ] अपने सत्यके मत्रोद्वारा उसने द्युलोकको स्तम्भित किया है। [पश्व प्रियानि पदानि नि पाहि] दर्शनरूपी गौके प्रिय पदचिह्नोकी रक्षा करो, [अग्ने] हे अग्ने! [विश्वायु] तू विश्वजीवन है, [गुहा गुह गा] गुह्योकी गुह्यतामें प्रवेश कर[1]।

(४)

य ईं चिकेत गुहा भवन्तमा य ससाद धारामृतस्य।
वि ये चृतन्त्यृता सपन्त आदिद् वसूनि प्र ववाचास्मै ॥

[य ईं गुहा भवन्त चिकेत] जो कोई जब कि वह गुप्त गुहामें है तब उसे देख लेता है, [य ऋतस्य धारा आ ससाद] जिसने सत्यकी धाराको प्राप्त किया है, [ये ऋता सपन्त वि चृतन्ति] जो लोग सत्यकी वस्तुओका स्पर्श करते है और उसे प्रदीप्त करते है, [आत् इत् अस्मै वसूनि प्र ववाच] तभी और ऐसे मनुष्यके लिये वह ऐश्वर्योके विषयमें वचन देता है।

(५)

वि यो वीरुत्सु रोधन्महित्वोत प्रजा उत प्रसूष्वन्त ।
चित्तिरपा दमे विश्वायु सद्मेव धीरा समाय चक्रु ॥

---

[1] या 'गुप्त गुफाकी गुह्यतामें प्रवेश कर'।

[य वीरुत्सु महित्वा वि रोधन्] जो वृक्ष-वनस्पतियोमें अपनी महिमाओको धारण करता है, [उत प्रजा उत प्रसूषु अन्त] दोनो जो उत्पन्न हुई प्रजा है और जो माताओंके अदर है, [अपा दमे चित्ति] वह जलोके घरमें ज्ञान है, [विश्वायु] और वैश्व जीवन है, [धीरा सद्म इव समाय चक्रु] विचारक लोगोने एक भवनकी तरह इसे नापा है और निर्माण किया है।

सूक्त ६८

(१)

श्रीणन्नुप स्थाद् दिव भुरण्यु स्थातुश्चरथमक्तून् व्यूर्णोत्।
परि यदेषामेको विश्वेषां भुवद् देवो देवाना महित्वा ॥

[भुरण्यु] ले जानेवाला, [श्रीणन्] जलाता हुआ, [दिव उप स्थात्] वह द्युलोकको पहुचता है। [अक्तून् व्यूर्णोत्, स्थातु चरथ] वह रात्रियोको स्पष्ट खोल देता है, स्थावर और जगमको प्रकट कर देता है, [यत्] क्योकि [एक देव] यह एक देव है जो कि [एषा विश्वेषा देवाना महित्वा] इन सब देवोकी महिमाओको [परि भुवत्] अपने आपसे आवृत कर लेता है।

(२)

आदित् ते विश्वे क्रतु जुषन्त शुष्काद् यद् देव जीवो जनिष्ठा ।
भजन्त विश्वे देवत्व नाम ऋत सपन्तो अमृतमेवै ॥

[आत् इत्] तभी [विश्वे ते क्रतु जुषन्त] सब लोग तेरे कर्मोंके सकल्पसे ससक्त होते है' [यत्] जब कि [देव] हे देव! तू [शुष्कात् जीव जनिष्ठा] शुष्क तत्त्वमेंसे सजीव होकर उत्पन्न हो जाता है। [विश्वे नाम, देवत्व भजन्त] सब उस नामका, देवत्वका उपभोग करते

'या 'सकल्पमें आनन्द लेते हैं'।

है, [एवै ऋत अमृत सपन्त] तेरी गतियोंके द्वारा वे सत्यका और अमरताका स्पर्श करते हैं।

(३)

ऋतस्य प्रेषा ऋतस्य धीतिर्विश्वायुर्विश्वे अपांसि चक्रुः।
यस्तुभ्य दाशाद् यो वा ते शिक्षात् तस्मै चिकित्वान् रयिं दयस्व॥

[ऋतस्य प्रेषा] वह सत्यकी प्रेरणा है, [ऋतस्य धीति] सत्यका चिन्तन है, [विश्वायु] विश्वव्यापी जीवन है [विश्वे अपांसि चक्रु] जिसके द्वारा सब कर्मोंको करते हैं। [य तुभ्य दाशात्] जो तुझको देता है, [यो वा ते शिक्षात्] अथवा जो तुझसे प्राप्त करता है', [तस्मै] उसको तू, [चिकित्वान्] क्योंकि तू जाननेवाला है, [रयिं दयस्व] ऐश्वर्य प्रदान कर।

(४)

होता निषत्तो मनोरपत्ये स चिन्न्वासां पती रयीणाम्।
इच्छन्त रेतो मिथस्तनूषु स जानत स्वैर्दक्षैरमूरा॥

[होता मनो अपत्ये निषत्त] वह यज्ञका होता है जो कि मनुके पुत्रमें—मानवमें—बैठा हुआ है [स चित् नु आसां रयीणां पति] वह ही वास्तवमें इन ऐश्वर्योंका पति है। [तनूषु मिथ रेत इच्छन्त] वे अपने शरीरोंमें परस्पर रेत (बीज) की इच्छा करते हैं [अमूरा] बुद्धिमान् लोग [स्वै दक्षै स जानत] अपने विवेचनों (विवेक करने-वाले विचारों) द्वारा पूरी तरह ज्ञानको प्राप्त करते हैं।

(५)

पितुर्न पुत्रा क्रतुं जुषन्त श्रोषन् ये अस्य शासं तुरास।
वि राय और्णोद् दुर पुरुक्षु पिपेश नाकं स्तृभिर्दमूना॥

'अथवा 'तुझसे सीखता है'।

[ये अस्य शास श्रोपन्] जो इसकी शिक्षाको सुनते हैं, [तुरास] जो पथपर क्षिप्रगामी हैं, [ऋनु जुपन्त] वे इसके सकल्पको आनदपूर्वक सेवन करते हैं [पितु न पुत्रा] जैसे कि पिता के सकल्पको पुत्र करते हैं। [पुरुक्षु] वह वहुतसे धनोका घर है [राय -दुर वि और्णोत्] और निधियोके द्वारोको खोल देता है। [दमूना] वह अदरका निवासी है जिसने कि [स्तृभि नाक पिपेश] इसके नक्षत्रो सहित द्यु-लोकको वनाया है।

सूक्त ६९

(१)

शुक्र. शुशुक्वाँ उषो न जार पप्रा समीची दिवो न ज्योति ।
परि प्रजात क्रत्वा वभूय भुवो देवाना पिता पुत्र सन् ॥

[शुक्र शुशुक्वाँ] चमकीले रूपमें प्रचण्डतया प्रदीप्त होता हुआ [उष जार न] जैसे कि उषाका प्रेमी, [समीची पप्रा] दो सम लोको-को[1] आपूरण करता हुआ [दिव ज्योति न] जैसे कि द्युलोककी ज्योति, [क्रत्वा प्रजात] तू हमारे सकल्पसे उत्पन्न हुआ है [परि वभूथ] और हमारे चारो तरफ हो जाता है, [देवाना पिता भुव] तू देवोंका पिता हो गया है [पुत्र सन्] जो कि तू पुत्र है।

(२)

वेधा अदृप्तो अग्निर्विजानन्नूधर्न गोना स्वाद्मा पितूनाम् ।
जने न शेव आहूर्य सन् मध्ये निषत्तो रण्वो दुरोणे ॥

[अग्नि विजानन्] अग्नि ज्ञानसे युक्त होता हुआ [अदृप्त वेधा] दर्पकी चपलतासे रहित रचयिता है[2], [गोना ऊध न] प्रकाशकी गौओ-

---

[1]अथवा 'दो सहचरोको'।

[2]अथवा 'विधाता' है।

का मानो वह म्नन है, [पितूना स्वाद्मा] सुराके घूटोको माधुर्ययुक्त करनेवाला[1] है। [जने शेव न] मनुष्यके अदर वह एक सुखपूर्ण अस्तित्वकी तरह है, [आहूर्य] ऐसा है जिसे कि हमें अवश्य पुकारना चाहिये, [सन्] ऐसा होता हुआ वह [दुरोणे मध्ये रण्व निषत्त] घरके मध्यमें आनन्दमग्न होकर बैठा हुआ है।

(३)

पुत्रो न जातो रण्वो दुरोणे वाजी न प्रीतो विशो वि तारीत्।
विशो यदह्वे नृभि सनीळा अग्निर्देवत्वा विश्वान्यश्या ॥

[जात दुरोणे रण्व पुत्र न] वह हममें उत्पन्न हुआ है मानो कि हमारे घरमें कोई आनन्दमग्न पुत्र है, [प्रीत वाजी न, विश वि तारीत्] एक हर्षभरे (तीव्रताके) घोडेकी तरह, वह प्रजाओंको उनके युद्धमें सुरक्षापूर्वक पार तरा ले जाता है। [यत् नृभि सनीळा विश अह्वे] जब मै उन सत्वोको पुकारता हू जो कि देवोंके साथ[2] एक निवासस्थानमे रहते है तो [अग्नि विश्वानि देवत्वा अश्या] अग्नि सब देवत्वोको प्राप्त कर लेता है।

(४)

नकिष्ट एता व्रता मिनन्ति नृभ्यो यदेभ्य श्रुष्टि चकर्थ।
तत् तु ते दसो यदहन्त्समानैर्नृभिर्यद् युक्तो विवे रपासि ॥

[नि एता व्रता नकि मिनन्ति] तेरी क्रियाओंके इन नियमोको कोई भी विगाड नही सकता [यत् एभ्य नृभ्य श्रुष्टि चकर्थ] जब कि इन देवोंके लिये[3] तूने अन्त प्रेरित ज्ञानको किया है, रचा है। [तत् तु ते दस] यह तो तेरा कार्य ही है कि [यत् समानै नृभि युक्त अहन्]

---

[1] अथवा 'सब अन्नोका स्वाद लेनेवाला'।
[2] अथवा 'मनुष्योंके साथ'।
[3] अथवा 'इन मनुष्योंके लिये'।

अपने समानो, देवोंसे युक्त होकर तूने प्रहार किया है[1], [यत् रपांसि विवे] कि तूने पापकी शक्तियोंको छिन्न-भिन्न कर दिया है।

(५)

उषो न जारो विभावोस्रः संज्ञातरूपश्चिकेतदस्मै।
त्मना वहन्तो दुरो व्यृण्वन् नवन्त विश्वे स्वर्दृशीके॥

[उष जार न, विभावा उस्र] उषाके प्रेमीकी तरह वह अति प्रकाशमान और उज्ज्वल है। [अस्मै संज्ञातरूप चिकेतत्] इस मानव प्राणीके लिये उसका स्वरूप अच्छी तरह ज्ञात होवे और वह ज्ञानमें जाग जावे, चेत जावे, [विश्वे त्मना वहन्त] सब उसे अपने अदर धारण करते हुए [दुर वि ऋण्वन्] द्वारोंको खुला खोल देवे और [स्व दृशीके नवन्त] सूर्य-लोकके दर्शनमें पहुच जावे।[2]

सूक्त ७०

(१)

वनेम पूर्वीरर्यो मनीषा अग्निः सुशोको विश्वान्यश्याः।
आ दैव्यानि व्रता चिकित्वाना मानुषस्य जनस्य जन्म॥

[पूर्वी वनेम] प्रभूत ऐश्वर्योंको हम प्राप्त करे, [अग्नि सुशोक मनीषा अर्य] अग्नि जो कि अपने प्रकाशसे अच्छी तरह प्रदीप्त है और मनीषाके द्वारा स्वामी है [विश्वानि अश्या] सब वस्तुओको व्याप्त कर लेवे, [दैव्यानि व्रता आ चिकित्वान्] वह अग्नि जो कि दिव्य-क्रियाके नियमोको अच्छी तरह जानता है और [मानुषस्य जनस्य जन्म आ] मनुष्य प्राणीके जन्मको अच्छी तरह (जानता है)।

---

[1] अथवा 'तूने वध किया है'।

[2] या 'सूर्यको देखनेको आवे'।

(२)

गर्भो यो अपा गर्भो वनाना गर्भश्च स्थाता गर्भश्चरथाम् ।
अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशा न विश्वो अमृत स्वाधी ॥

[य अपा गर्भ, वनाना गर्भ] जो जलोका गर्भस्थ शिशु है, वनोका अन्तस्थ शिशु है, [स्थाता च गर्भ, चरथा गर्भ] स्थावरोका शिशु है और जगमोका शिशु है, [अस्मै अद्रौ चित्, दुरोणे अन्त] इस मनुष्यके लिये जो पत्थरमें भी है और जो उसके घरके मध्यमें है—[विशा विश्व न] वह प्रजाओमें एक विश्वव्यापीकी तरह है, [अमृत] वह अमर है, [स्वाधी] पूर्ण विचारक है।

(३)

स हि क्षपावाँ अग्नी रयीणा दाशद् यो अस्मा अर सूक्तै ।
एता चिकित्वो भूमा नि पाहि देवाना जन्म मर्ताश्च विद्वान् ॥

[स हि अग्नि क्षपावान] वह अग्नि रात्रियोका स्वामी है, [रयीणा दाशत्] वह ऐश्वर्योको उसे देता है [य अस्मै अर सूक्तै] जो कि इसके लिये पूर्ण वचनोद्वारा पर्याप्त (यजन करता है)। [चिकित्व] हे तू जो कि सचेतन है! [एता भूम, देवाना जन्म, मर्त्तान् च] इन लोकोकी, देवोके जन्मकी और मर्त्य मनुष्योकी [विद्वान् नि पाहि] ज्ञाता होते हुए, रक्षा कर।

(४)

वर्धान्य पूर्वी क्षपो विरूपा स्थातुश्च रथमृतप्रवीतम् ।
अराधि होता स्वर्निषत्त कृण्वन् विश्वान्यपासि सत्या ॥

[य पूर्वी विरूपा क्षप वर्धान्] जिसे बहुतसी विविध-रूपवाली रात्रियोने बढाया है, [ऋतप्रवीत, स्थातु च रथम्] जो सत्यसे उद्भूत हुआ है, जो स्थिर है और गतिमान् है, [होता अराधि] वह, होता,

हमारे लिये सिद्ध किया गया है, [स्व निषत्त] जो सूर्यलोकमें' बैठा हुआ है [विश्वानि अपासि सत्या कृण्वन्] हमारे सब कर्मोको सत्य करता हुआ।

(५)

गोषु प्रशस्तिं वनेषु धिषे भरन्त विश्वे बलिं स्वर्ण ।
वि त्वा नर. पुरुत्रा सपर्यन् पितुर्न जिव्रेर्वि वेदो भरन्त ॥

[गोषु वनेषु प्रशस्ति धिषे] तू किरण-गौमें और वनोमें अपने शब्द-को स्थापित करता है, [विश्वे स्व न बलि भरन्त] यह ऐसा है मानो सब सूर्य-लोकको बलिके रूपमे ला रहे है। [नर पुरुत्रा त्वा वि सपर्यन्] मनुष्य बहुतसे स्थानोपर तेरी पूजा करते हैं और [विद वि भरन्त जिव्रे पितु न] ज्ञानको आहरण करते है जैसे कि एक वृद्ध पितासे।

(६)

साधुर्न गृध्नुरस्तेव शूरो यातेव भीमस्त्वेष समत्सु ॥

[साधु न गृध्नु] वह एक कार्यसाधककी तरह है और पकडनेको भूखा है, [अस्ता-इव शूर] तीर छोडनेवाले धनुर्धरकी तरह शूर है, [याता-इव भीम] आक्रामक प्रयाण करनेवालेकी तरह भयकर है, [सम-त्सु त्वेष] हमारे युद्धोमें वह देदीप्यमान होता है।

सूक्त ७१

(१)

उप प्र जिन्वन्नुशतीरुशन्त पतिं न नित्य जनय सनीळा ।
स्वसार श्यावीमरुषीमजुष्रन् चित्रमुच्छन्तीमुषस न गाव ॥

'अथवा 'सूर्यमें'।

[सनीडा जनय] एक निवासस्थानवाली माताए [उशती उशन्त उप] चाहती हुई उस चाहते हुए के पास आयी और [प्रजिन्वन् नित्य पति न] उसे सुख दिया जैसे कि अपने शाश्वत पतिको, [स्वसार अजुषन्] वहनोने उसमे आनन्द लिया [गाव उपस न] जैसे किरण-रूपी गौओंने उषामे [श्यावी अरुपी चित्र उच्छन्ती] जव कि वह उपा धुधली, फिर रक्ताभ और फिर चित्र-विचित्र रगोमे चमक उठती है।

(२)

वीळु चिद् दृळ्हा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण।
चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अह स्वर्विविदु केतुमुस्रा ॥

[न पितर वीळु दृळ्हा चित् उक्थै रुजन्] हमारे पूर्व-पितरोंने वडे प्रवल और दृढ स्थानोको भी अपने शव्दोद्वारा तोड डाला, [अगि-रस अद्रि रवेण (रुजन्)] अगिरस ऋषियोने पहाडी चट्टानको अपने निनादद्वारा टुकडे-टुकडे कर दिया, [अस्मे वृहत दिव गातु चक्रु] इस प्रकार हममें वृहत् द्युलोकके लिये उन्होने पथ वना दिया, [अह स्व केतु उस्रा विविदु] उन्होने दिनको, सूर्य-लोकको, अन्तर्ज्ञानकी किरण-को और चमकती हुई गांओको खोजकर प्राप्त कर लिया।

(३)

दधन्नृत धनयन्नस्य धीतिमादिदर्यो दिधिष्वो विभृत्रा।
अतृष्यन्तीरपसो यन्त्यच्छा देवाञ्जन्म प्रयसा वर्धयन्ती ॥

[ऋत दधन्] उन्होने सत्यको धारण किया, [अस्य धीतिं धनयन्] इस मानव प्राणीके विचारको समृद्ध किया, [आत् इत्] इसके अनन्तर ही वे [अर्य, दिधिष्व, विभृत्रा] स्वामित्वयुक्त, समझवाले और अग्नि-को धारण करनेवाले हुए, [अपस अतृष्यन्ती देवान् अच्छ यन्ति] कार्य-रत शक्तिया, किसी औरकी तृष्णा न करती हुई, देवोकी ओर अच्छी तरह जाती हैं [जन्म प्रयसा वर्धयन्ती] जन्मको सुखके द्वारा वढाती हुई।

(४)

मथीद् यदीं विभृतो मातरिश्वा गृहेगृहे श्येतो जेन्यो भूत्।
आदीं राज्ञे न सहीयसे सचा सन्ना दूत्यं भृगवाणो विवाय॥

[यत् विभृत मातरिश्वा ई गृहे गृहे मथीत्] जब कि व्याप्त रूपमे अदर धारण किये गये **जीवन-प्राणने** उसे घर-घरमे मथकर निकाला तो [श्येत जेन्य भूत्] वह श्वेत और एक विजेता हो जाता है। [आत् ई भृगवाण] तब निस्सदेह वह **भृगु—ज्वालामय ऋषि**—हो जाता है और [सचा सन् दूत्य आ विवाय] हमारा साथी होता हुआ दूतत्वको प्राप्त होता है [महीयसे राज्ञे न] मानो वह किसी प्रतापी राजाके लिये दूत हो।

(५)

महे यत् पित्र ईं रस दिवे करव त्सरत् पृशन्यश्चिकित्वान्।
सृजदस्ता धृषता दिद्युमस्मै स्वाया देवो दुहितरि त्विषिं धात्॥

[यत् ई रस महे दिवे पित्रे क] जब उसने इस सार-रसको महान् **द्यौ पिताके** लिये किया [पृशन्य चिकित्वान् अव त्सरत्] तो वह, समीपता-से स्पर्श करनेवाला और ज्ञानवाला, नीचेकी ओर सरक आया। [अस्ता धृषता अस्मै दिद्यु सृजत्] **धनुर्धारीने** प्रबलताके साथ इसपर अपने विद्युत्के बाणको छोडा, [देव स्वाया दुहितरि त्विषिं धात्] परतु देवने अपनी ही पुत्रीमे ज्वालामय शक्तिको रखा, धारण कराया।

(६)

स्व आ यस्तुभ्य दम आ विभाति नमो वा दाशादुशतो अनु द्यून्।
वर्धो अग्ने वयो अस्य द्विबर्हा यासद् राया सरथ य जुनासि॥

[य स्वे दमे तुभ्य आ आ विभाति] जो तेरे अपने घरमे तेरे लिये प्रकाशको प्रदीप्त करता है [वा नम अनु द्यून् दाशात्] अथवा जो सम-र्पणके नमनकी भेंट प्रतिदिन चढाता है [उशत] तू भी जिसे चाहता है, [अग्न द्विबर्हा] हे अग्ने! दो प्रकारसे वृद्धिगत होता हुआ तू,

[अस्य वय वर्ध] उसकी उन्नतिको वढा, [य सरथ जुनासि] वह जिसे कि तू अपने साथ एक रथमें तीव्रतासे ले चलता है [राया यासत्] वह ऐश्वर्यके साथ गति करे।

(७)

अग्नि विश्वा अभि पृक्ष सचन्ते समुद्र न स्रवत सप्त यह्वी ।
न जामिभिर्वि चिकिते वयो नो विदा देवेषु प्रमति चिकित्वान् ॥

[विश्वा पृक्ष अग्नि अभि सचन्ते] सब तृप्तिया अग्निमें आकर समवेत होती है [स्रवत सप्त यह्वी समुद्र न] जैसे कि वहती हुई सात महान् नदिया समुद्रमे एक हो जाती है। [न वय जामिभि न वि चिकिते] हमारी सत्ताकी उन्नति तेरे साथियोद्वारा नही जानी गयी है, [चिकित्वान् देवेषु प्रमति विदा] परन्तु तू जो कि जाननेवाला है अपने ज्ञानको देवोको प्रदान कर, उन्हे वता'।

(८)

आ यदिषे नृपति तेज आनट् छुचि रेतो निषिक्त द्यौरभीके ।
अग्नि शर्धमनवद्य युवान स्वाध्य जनयत् सूदयच्च ॥

[यत तेज नृपति इषे आ आनट्] जब कि एक तेज उस मनुष्यो-के राजाको, वलकी प्रेरणाके लिये, आकर प्राप्त हुआ, [अभीके द्यौ शुचिरेत निषिक्त] जब कि उनके मिलनेपर द्यौका उसके अदर विशुद्ध वीजके रूपमें निषेचन किया गया, [अग्नि शर्ध अजनयत्] तो अग्निने एक ऐसे ऊर्जको' जन्म दिया, [युवान अनवद्य स्वाध्य] जो युवा है, निर्दोष है और पूर्ण विचारवाला है, [सूदयन् च] और इसे इसके मार्गपर प्रवर्तित किया।

'या 'हमारे लिये देवोमे ज्ञान प्राप्त कर'।

'या 'एक सैन्यको'। इसका अभिप्राय होगा मरुत् देवोकी सेना, 'मारुत गण'।

(९)

मनो न योऽध्वन सद्य एत्येक सत्रा सूरो वस्व ईशे।
राजाना मित्रावरुणा सुपाणी गोषु प्रियममृत रक्षमाणा॥

[य अध्वन सद्य एति, मन न] जो कि मार्गोपर बडी शीघ्रतासे चलता है, जैसे कि मन (शीघ्रगामी) है, [सूर सत्रा एक वस्व ईशे] वह **सूर्य**, सदा एकाकी, निधियोका स्वामी भी होता है, [मित्रावरुणा सुपाणी राजाना] **मित्र** और **वरुण**, जो कि सुन्दर हाथोवाले **राजा** हैं, [गोषु प्रिय अमृत रक्ष-माणा] **किरणोमें**[1] आनन्द और अमरताकी रक्षा करते हुए विद्यमान है।

(१०)

मा नो अग्ने सख्या पित्र्याणि प्र मर्षिष्ठा अभि विदुष्कवि सन्।
नभो न रूप जरिमा मिनाति पुरा तस्या अभिशस्तेरधीहि॥

[अग्ने] हे **अग्ने**! [न पित्र्याणि सख्यानि मा प्र मर्षिष्ठा] हमारे प्राचीन सख्य भावोको तू मत भूल जाना[2], [विदु कवि सन् अभि] जो तू ज्ञानवान् और क्रातदर्शी होता हुआ हमारे प्रति अभिमुख हुआ है। [नभ रूप न, जरिमा मिनाति] जैसे धुन्ध रूपको (धुधला कर देती है) वैसे जरा हमे क्षीण कर रही है, [तस्या अभिशस्ते पुरा, अधि इहि] उस आघातके होनेसे पहिले ही, तू आ। आ पहुच।[3]

सूक्त ७२

(१)

नि काव्या वेधस शश्वतस्कर्हस्ते दधानो नर्या पुरूणि।
अग्निर्भुवद् रयिपती रयीणा सत्रा चक्राणो अमृतानि विश्वा॥

---

[1]गोषु–किरण-गौओमें, **सूर्यकी** चमकती हुई गौओमें।

[2]अथवा 'उपेक्षित मत करना' या 'विलुप्त मत करना'।

[3]अथवा 'वह प्रहार हमपर हो उससे पहिले हमारी तरफ ध्यान दे, हमे स्मरण कर'।

[शश्वत वेधस काव्या नि क] वह हमारे अदर शाश्वत रचयिता की ज्ञातदर्शी प्रज्ञाओको बनाता है, [हस्ते पुरूणि नर्या दधान] वह जो कि अपने हाथमें बहुतसी देवत्वकी शक्तियोको[1] धारण किये हुए है। [अग्नि रयीणा रयिपति भुवत्] अग्नि ऐश्वर्योका निधिपति हो जावे, [विश्वा अमृतानि सत्रा चक्राण] जो कि सब अमर वस्तुओको सदा बना रहा है।[2]

(२)

अस्मे वत्स परि षन्त न विन्दन्निच्छन्तो विश्वे अमृता अमूरा ।
श्रमयुव पदव्यो धियधास्तस्थु पदे परमे चार्वग्ने ॥

[विश्वे अमृता अमूरा इच्छन्त] सब अमर, ज्ञानी लोगोने चाहा [अस्मे वत्स परि षन्त न विन्दन्] किंतु हमारे अदर उस वत्सको जो कि सब तरफ है वे पा नही सके, [पदव्य श्रमयुव धियधा] उसके मार्गपर प्रवृत्त, श्रम करनेको एकत्रित, वे विचारको धारण करनेवाले [परमे पदे तस्थु] परम धाममे स्थित हुए और [अग्ने चारु] उन्होने अग्निके सौंदर्यको प्राप्त किया।

(३)

तिस्रो यदग्ने शरदस्त्वामिच्छुचि घृतेन शुचय सपर्यान् ।
नामानि चिद् दधिरे यज्ञियान्यसूदयन्त तन्व सुजाता ॥

[यत् तिस्र शरद] जब कि तीन वर्षोतक, [अग्ने] हे अग्ने! [त्वा इत् शुचि] तुझ ही पवित्रको [शुचय] उन पवित्रोने [घृतेन] प्रकाशकी निर्मलताके द्वारा [सपर्यान्] पूजन किया, [यज्ञियानि नामानि चित् दधिरे] और यज्ञिय नामोको भी धारण किया, [तन्व सुजाता]

---

[1] अथवा 'देवत्वके बलोंको'।

[2] अथवा 'इकट्ठा बना रहा है'।

तो उनके शरीर पूर्ण जन्मको प्राप्त हुए [असूदयन्त] और उन्होने इन्हे मार्गपर आगे प्रवर्तित किया।

(४)

आ रोदसी बृहती वेविदाना प्र रुद्रिया जभ्रिरे यज्ञियास ।
विदन्मर्तो नेमधिता चिकित्वानग्निं पदे परमे तस्थिवासम् ॥

[यज्ञियास बृहती रोदसी आ वेविदाना] यजपतियोने **बृहत् द्यौ** और **पृथिवी**को खोजकर पाया और [रुद्रिया प्र जभ्रिरे] अपनी रुद्र-शक्तिमें इन्हे धारण किया, [मर्त्त विदन्] तब मनुष्यने इन्हे जाना और [नेमधिता अग्नि चिकित्वान्] अपने उपरितर' गोलार्ध के धारणद्वारा उस **अग्नि**को देखा [परमे पदे तस्थिवासम्] जो परम पदमें ठहरा हुआ है।

(५)

सजानाना उप सीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्य नमस्यन् ।
रिरिक्वासस्तन्व कृण्वत स्वा सखा सख्युर्निमिषि रक्षमाणा ॥

[सजानाना पत्नीवन्त उप सीदन्] उसे अच्छी तरह जानते हुए, अपनी पत्नियोंके सहित, वे आये [अभिज्ञु] और उसके आगे घुटने टेके [नमस्य नमस्यन्] और उस नमस्करणीयका नमस्कारद्वारा पूजन किया। [रिरिक्वास] उन्होने अपने-आपको रिक्त किया [स्वा तन्व कृण्वत] और अपने शरीरोको रचा [निमिषि रक्षमाणा] जो कि उसकी दृष्टिमे रक्षित है, [सख्यु सखा] मित्रकी दृष्टिमें एक मित्र।

(६)

त्रि सप्त यद् गुह्यानि त्वे इत् पदाविदन्निहिता यज्ञियास ।
तेभी रक्षन्ते अमृत सजोषा पशूञ्च स्थातॄञ्चरथ च पाहि ॥

'नेमि अर्थात् अर्ध (आधा), ऐसा प्रतीत होता है, 'बृहत् द्यौ' की तरफ, उपरितर अर्ध (गोलार्ध) की तरफ निर्देश करता है जिसके कि परे है वह परम लोक जिसे 'परम पद' कहा गया है।

[यत् यजियाम] जब कि यजपतियोने [त्वे इत् निहिता गुह्यानि त्रि सप्त पदा] तेरे ही अदर छिपे रखे गुप्त तीनगुने सात लोकोको [अविदन्] प्राप्त किया, [तेभि अमृत सजोषा रक्षन्ते] तो उन्हीके द्वारा वे अमरताकी समान स्वीकृतिके साथ रक्षा करते है। (पशून् च) तू पशुओंकी, [स्थातॄन् चरथ च] जो स्थावर है और जो जगम है, [पाहि] पालना कर।

(७)

विद्वाँ अग्ने वयुनानि क्षितीना व्यानुषक् छुरुधो जीवसे धा ।
अन्तर्विद्वाँ अध्वनो देवयानानतन्द्रो दूतो अभवो हविर्वाट् ॥

[अग्ने] हे अग्ने! [वयुनानि विद्वान्] तू हमारे ज्ञानोको जाननेवाला है, [क्षितीना शुरुध आनुषक् वि धा] प्रजाओंके लिये बलोका सतत रूपसे विधान कर [जीवसे] जिससे कि वे जी सकें। [देवयानान् अध्वन अन्त विद्वान्] देवताओंकी यात्राके मार्गोको अदरसे जाननेवाला तू [अतन्द्र दूत हविर्वाट् अभव] अनिद्र दूत और हविओंका वहन करनेवाला हो गया है।

(८)

स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन् ।
विदद् गव्य सरमा दृळ्हमूर्वं येना नु क मानुषी भोजते विट् ॥

[दिव आ सप्त यह्वी] द्युलोकसे आयी सात महान् नदियोने, [स्वाध्य ऋतज्ञा] जो गभीर विचार करनेवाली और सत्यको जाननेवाली है, [राय दुर] निधिके द्वारोको [वि अजानन्] जाना। [सरमा दृढ ऊर्वं गव्य विदत्] सरमाने दृढ और विस्तारभूत किरण-रूपी गौके समूहको खोज लिया, [येन नु क मानुषी विट् भोजते] जिसके कि कारण अब मानुषी प्रजा आनन्दको भोगती है।

(९)

आ ये विश्वा स्वपत्यानि तस्थुः कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम्।
मह्ना महद्भिः पृथिवी वि तस्थे माता पुत्रैरदितिर्धायसे वेः ॥

[ये विश्वा स्वपत्यानि आ तस्थु] ये वे है जो उन सब वस्तुओ-पर अपने पग रखते है जो कि उत्तम प्रसूति (परिणाम) लाती हैं, [अमृतत्वाय गातु कृण्वानास] जो अमरताके लिये मार्ग बना रहे है। [पृथिवी महद्भि मह्ना वि तस्थे] पृथिवी इन महान् सत्ताओंके द्वारा महिमामे विस्तृत होकर स्थित हुई, [अदिति माता पुत्रै धायसे वे] असीम माता अपने पुत्रोंके सहित इसे धारण करनेको आयी।

(१०)

अधि श्रियं नि दधुश्चारुमस्मिन् दिवो यदक्षी अमृता अकृण्वन्।
अध क्षरन्ति सिन्धवो न सृष्टा प्र नीचीरग्ने अरुषीरजानन् ॥

[यत् अमृता दिव अक्षी अकृण्वन्] जब अमरोने द्युलोककी दो आखोको रचा, [अस्मिन् श्रिय चारु अधि नि दधु] तो उन्होने इसके अदर श्रीको और सौंदर्यको निहित किया। [अध सृष्टा सिन्धव न क्षरन्ति] तब बहनेको छोडी हुई नदियोकी तरह वहासे क्षरित हुई, [नीची प्र] नीचेकी तरफ वे दौडी, [अरुषी] वे उसकी अरुण घोडिया, [अजानन्] और उन्होने जाना, [अग्ने] हे अग्ने !

सूक्त ७३

(१)

रयिर्न यः पितृवित्तो वयोधाः सुप्रणीतिश्चिकितुषो न शासुः।
स्योनशीरतिथिर्न प्रीणानो होतेव सद्म विधतो वि तारीत् ॥

[य पितृवित्त रयि न वयोधा] जो अग्नि पितासे प्राप्त धनकी

तरह हमारे बलका आधार होता है, [चिकितुष शासु न सुप्रणीति] ज्ञानवान् पुरुषके शासनकी[1] तरह जो अपने नेतृत्वमे पूर्ण है, [अतिथि न स्योनशी प्रीणान] अतिथिकी तरह जो सुखसे लेटा हुआ और अच्छी तरह तर्पित है, [होता इव, विधत सद्म वि तारीत्] जो होताकी तरह है और अपनी पूजा करनेवालेके घरको बढाता है।

(२)

देवो न य सविता सत्यमन्मा क्रत्वा निपाति वृजनानि विश्वा।
पुरुप्रशस्तो अमतिर्न सत्य आत्मेव शेवो दिधिषाय्यो भूत्॥

[य देव सविता न] जो अग्नि दिव्य सूर्यकी तरह है [सत्यमन्मा] जो कि सत्य विचारोवाला है, [क्रत्वा विश्वा वृजनानि निपाति] जो अपने सकल्पके द्वारा हमारे सब दृढ स्थानोकी रक्षा करता है, [पुरुप्रशस्त अमति न] जो अनेक प्रकारसे अभिव्यक्त शोभाकी तरह है [सत्य] जो सत्य है, [शेव आत्मा इव] वह आनदपूर्ण आत्माकी तरह है [दिधिषाय्य भूत्] और हमारा धर्त्ता होता है।[2]

(३)

देवो न य पृथिवीं विश्वधाया उपक्षेति हितमित्रो न राजा।
पुर सद शर्मसदो न वीरा अनवद्या पतिजुष्टेव नारी॥

[य विश्वधाया देव न] जो अग्नि विश्वको धारण करनेवाले देवकी तरह है, [हितमित्र राजा न पृथिवी उपक्षेति] और जो एक हितकारक और मित्र राजाकी तरह पृथिवीपर निवास करता है, [पुर सद शर्मसद वीरा न] जो हमारे आगे बैठे हुए, हमारे घरमे रहते हुए वीरसमुदायकी तरह है, [अनवद्या पतिजुष्टा नारी इव] जो निर्दोष

[1] अथवा 'शिक्षणकी तरह'।

[2] अथवा 'वह ध्यान करने योग्य (मनमें धारित) है, आत्माकी तरह आनदपूर्ण है'।

और पतिद्वारा प्रीत नारीकी तरह है।

(४)

त त्वा नरो दम आ नित्यमिद्धमग्ने सचन्त क्षितिषु ध्रुवासु।
अधि द्युम्न नि दधुर्भूर्यस्मिन् भवा विश्वायुर्धरुणो रयीणाम्॥

[अग्ने] हे अग्ने! [त त्वा दमे नित्य इद्ध] उस तुझको, घरमें नित्य प्रदीप्त किये गये को, [ध्रुवासु क्षितिषु नर आ सचन्त] तेरे निवासके स्थिर लोकोमें, मनुष्य ससक्त होते हैं। [अस्मिन् अधि भूरि द्युम्न नि दधु] इस तुझपर (उन्होने) अपने अदर एक महान् प्रकाशको स्थापित किया है, [रयीणा विश्वायु धरुण भव] तू ऐश्वर्योका विश्वजीवनमय धर्त्ता हो जा।

(५)

वि पृक्षो अग्ने मघवानो अश्युर्वि सूरयो ददतो विश्वमायु।
सनेम वाज समियेष्वर्यो भाग देवेषु श्रवसे दधाना॥

[अग्ने] हे अग्ने! [मघवान पृक्ष वि अश्यु] धनपति लोग तेरी तृप्तियोका उपभोग करे, [सूरय विश्व आयु ददत वि] जो प्रकाश-युक्त ज्ञानी हैं, जिन्होने सपूर्ण जीवन प्रदान किया है वे उपभोग करे [समिथेषु अर्य वाज सनेम] अपने युद्धोमें हम अरिओसे प्रचुरताको जीते[1], [श्रवसे देवेषु भाग दधाना] अन्त प्रेरित ज्ञानके लिये देवोंमें अपने भागको धारण करते हुए।

(६)

ऋतस्य हि धेनवो वावशाना स्मदूध्नी पीपयन्त द्युभक्ता।
परावत सुमति भिक्षमाणा वि सिन्धव समया सस्रुरद्रिम्॥

[ऋतस्य हि धेनव] सत्यकी दोग्ध्री गौओने, [द्युभक्ता] जो

[1]अथवा 'युद्धोमें योद्धा हम प्रचुरताको जीते'।

द्युलोकमे उपभोगमे आयी, [स्मदूध्नी] परिपूरित स्तनोवाली, [वावशाना] और हमें चाहनेवाली हैं, [पीपयन्त] हमे अपना दुग्धपान कराया, [परावत सुमतिं भिक्षमाणा] परात्परमे यथार्थ विचारकी याचना करती हुई [मिन्वव अद्रि समया वि सस्रु] नदिया पर्वतके ऊपर विस्तृत रूपमें वही।

(७)

त्वे अग्ने सुमतिं भिक्षमाणा दिवि श्रवो दधिरे यज्ञियास ।
नक्ता च चक्रुरुपसा विरूपे कृष्ण च वर्णमरुण च स धु ॥

[अग्ने] हे अग्ने! [त्वे सुमतिं भिक्षमाणा] तुझमे यथार्थ विचारकी याचना करते हुए [यज्ञियास] यज्ञपतियोने [दिवि श्रव दधिरे] द्युलोकमें अन्त प्रेरित ज्ञानको रखा [नक्ता उपसा च विरूपे चक्रु] उन्होने रात्रिको और उपाको विभिन्न रूपवाले बनाया [कृष्ण वर्ण च अरुण च स धु] और काले रगको और अरुणको इकट्ठा जोड दिया।

(८)

यान् राये मर्तान्त्सुषूदो अग्ने ते स्याम मघवानो वय च।
छायेव विश्व भुवन सिसक्ष्यापप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम् ॥

[अग्ने] हे अग्ने! [यान् मर्त्तान् राये सुषूद] तू जिन मनुष्योको ऐश्वर्यके प्रति प्रेरित करता है [ते स्याम] वे हम होवे, [मघवान वय च] धनपति और हम । [रोदसी अन्तरिक्ष आपप्रिवान्] द्यावापृथिवी और अन्तरिक्षको आपूरित करता हुआ तू [विश्व भुवन छाया इव सिसक्षि] सपूर्ण ससारके साथ छायाकी तरह सलग्न रहता है।

(९)

अर्वद्भिरग्ने अर्वतो नृभिर्नॄन् वीरैर्वीरान् वनुयामा त्वोता ।
ईशानास पितृवित्तस्य रायो वि सूरय शतहिमा नो अश्यु ॥

[अग्ने] हे अग्ने! [त्वा-ऊता] तुझद्वारा रक्षित हुए हुए[1] हम [अर्वद्भि अर्वत] अपने युद्धाश्वोद्वारा युद्धाश्वोको [नृभि नॄन्] अपने दृढ मनुष्योद्वारा मनुष्योको [वीरै वीरान्] अपने वीरोद्वारा वीरोको [वनुयाम] जीते, [न सूरय] हमारे ज्ञानी पुरुष [पितृवित्तस्य राय ईशानास] पितरोद्वारा अधिगत ऐश्वर्यके अधिपति होवे और [शत-हिमा वि अश्यु] सौ हेमन्तोतक जीते हुए उसका भोग करे।

(१०)

एता ते अग्न उचथानि वेधो जुष्टानि सन्तु मनसे हृदे च।
शकेम राय सुधुरो यम तेऽधि श्रवो देवभक्त दधाना ॥

[वेध अग्ने] हे वस्तुओके विधाता, हे अग्ने! [एता उचथानि ते मनसे हृदे च जुष्टानि सन्तु] ये वचन तेरे लिये, तेरे मनके लिये और हृदयके लिये, स्वीकरणीय होवे, [सुधुर ते राय यम शकेम] हम दृढ धुराके साथ तेरे धनका नियमन कर सकनेकी शक्तिवाले हो सके [देवभक्त श्रव अधि दधाना] हम जो कि देवोद्वारा उपभुक्त[2] अत-प्रेरित ज्ञानको तुझमें धारण कर रहे है।

---

[1]अथवा 'तुझद्वारा उत्तभित, थामे हुए'।
[2]अथवा 'देवो द्वारा विभक्त, (वितरित)'।

परुच्छेप ऋषिके आग्नेय सूक्त

मण्डल १

सूक्त १२७

(१)

अग्नि होतार मन्ये दास्वन्त
वसु सूनु सहसो जातवेदस विप्र न जातवेदसम्।
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा।
घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषा ऽऽजुह्वानस्य सर्पिष ॥

[अग्नि मन्ये] मै अग्निका ध्यान करता हू जो [होतार] आवाहन-का पुरोहित है, [वसु दास्वन्त] ऐश्वर्यको देनेवाला है, [सहस सूनु] शक्तिका पुत्र है, [जातवेदस] सब उत्पन्न वस्तुओको जाननेवाला है, [जातवेदस विप्र न] और जो सब उत्पन्न वस्तुओंके जानकार और प्रकाशित बुद्धिवाले ज्ञानीकी तरह है।

[य] जो अग्नि [स्वध्वर] यात्रारूपी यज्ञमे पूर्ण होता हुआ [देव ऊर्ध्वया देवाच्या कृपा] और ऐसा देव होता हुआ जो कि अपनी ऊपर उन्नत हुई देवाभिमुखी इच्छासे युक्त है[1] [शोचिषा] अपनी ज्वालाके साथ [घृतस्य विभ्राष्टि] प्रकाश-हविकी जाज्वल्यमान प्रदीप्तिको [अनु वष्टि] चाहता है, [आजुह्वानस्य सर्पिष] आहुति-रूपमें उडेली जा रही इसकी धाराको चाहता है।

(२)

यजिष्ठ त्वा यजमाना हुवेम
ज्येष्ठमङ्गिरसा विप्र मन्मभि- र्विप्रेभि शुक्र मन्मभि ।
परिज्मानमिव द्या होतार चर्षणीनाम्।
शोचिष्केश वृषण यमिमा विश प्रावन्तु जूतये विश ॥

---

[1]अथवा 'जो कि उच्च, ऊपर उठी हुई, देवों को चाहनेवाली चमक [द्युति] से युक्त है'।

[यजिष्ठ, अंगिरसां ज्येष्ठं त्वा] यज्ञके लिये अत्यन्त शक्तिशाली और अंगिरसोंमें सबसे बड़े तुझको [यजमाना हुवेम] हम यज्ञके करनेवाले बुलावें, [विप्र] हे प्रकाशमान देव [मन्मभिः] अपने विचारोंके द्वारा, [शुक्र] हे अत्यन्त दीप्यमान अग्ने! [विप्रेभिः मन्मभिः] अपने प्रकाशित विचारोंके द्वारा तुझे बुलावें, [चर्षणीनां होतारं] जो मनुष्योंका आवाहन-पुरोहित[1] और [द्यां इव परिज्मानं] द्युलोककी तरह सबको परिवृत करनेवाला है, [वृषणं शोचिष्केशं] पुरुष है ज्वालामय प्रकाश-रूपी बालोंवाला [यं इमा विशः विशः जूतये प्रावन्तु] जिसका कि ये उसमें प्रविष्ट होनेवाली प्रजायें उसकी प्रेरणाके लिये सेवन करें, उपासना करें।

(३)

स हि पुरू चिदोजसा विरुक्मता
दीद्यानो भवति द्रुहंतरः परशुर्न द्रुहंतरः।
वीळु चिद् यस्य समृतौ श्रुवद् वनेव यत् स्थिरम्।
निष्षहमाणो यमते नायते धन्वासहा नायते॥

[स हि] वह अग्नि ही [पुरु चित् विरुक्मता ओजसा दीद्यानः] बहुत-सी वस्तुओंको अपने विशेष प्रकाशशील बलके द्वारा प्रकाशमान करता हुआ [द्रुहंतरः भवति] द्रोहियोंको, हानि पहुंचानेवालोंको चीर डालनेवाला हो जाता है, [द्रुहंतरः परशुः न] जैसे कि द्रोहियोंको चीर डालनेवाला कुल्हाड़ा होता है, [यस्य समृतौ वीळु चित् श्रुवत्] वह जिससे कि टकराकर दृढ वस्तु भी भग्न हो जाती है, [यत् स्थिरं वना-इव] जहांतक कि जो अचल स्थिर है वह भी वृक्षोंकी तरह गिर जाता है, [निष्षहमाणः यमते] सबको अभिभव करता हुआ वह चले जाता है [न अयते] पीछे नहीं हटता, [धन्वासहा न अयते] धनुर्धारी योद्धाकी तरह वह कभी पीछे नहीं हटता।

---

[1]अथवा 'देखनेवाले मनुष्योंके लिये आवाहनका पुरोहित'।

(४)

दृहळा चिदस्मा अनु दुर्यथा विदे
तेजिष्ठाभिररणिभिर्दाष्टयवसे ऽग्नये दाष्टयवसे।
प्र य पुरूणि गाहते तक्षद् वनेव शोचिषा।
स्थिरा चिदन्ना नि रिणात्योजसा नि स्थिराणि चिदोजसा॥

[दृढा चित् अस्मै अनु दु] दृढ वस्तुओको भी वे इसके लिये देते है [यथा विदे] जैसे कि किसी ज्ञानीके लिये, [तेजिष्ठाभि अरणिभि] उसकी ज्वालामय शक्तिकी गतियोके द्वारा [अवसे दाष्टि] सरक्षा पानेके लिये कोई देता है, [अग्नये अवसे दाष्टि] अग्निके लिये सरक्षा पानेको देता है। [य पुरूणि प्र गाहते] जो अग्नि बहुतसी वस्तुओके अन्दर प्रविष्ट होता है [शोचिषा वना इव तक्षत्] और अपने ज्वालामय प्रकाश द्वारा, वृक्षोकी तरह, उन्हे घडता है, [स्थिरा चित् ओजसा नि रिणाति] अचल स्थिर वस्तुओको भी वह अपने वलद्वारा विदीर्ण करता है और [स्थिराणि चित् ओजसा अन्ना नि] अचल स्थिर वस्तुओको भी अपना भोजन वना लेता है।

(५)

तमस्य पृक्षमुपरासु धीमहि
नक्त य सुदर्शतरो दिवातरा- दप्रायुषे दिवातरात्।
आदस्यायुर्ग्रभणवद् वीळु शर्म न सूनवे।
भक्तमभक्तमवो व्यन्तो अजरा अग्नयो व्यन्तो अजरा॥

[अस्य त पृक्ष उपरासु धीमहि] इसकी उस पूर्णताका हम उपरि-स्तरोमें ध्यान करते है,[1] [य नक्त दिवातरात् सुदर्शतर] उस अग्निकी जो कि रात्रिमें दिनकी अपेक्षा अधिक सुदर्शनीय होता है, [अप्रायुषे दिवातरात्] उसके अविनाशी जीवनके लिये जो कि दिनकी अपेक्षा रात्रिमें अधिक

---

[1]अथवा 'धारण करते है'।

अग्निरीशे वसूना शुचिर्यो धर्णिरेषाम् ।
प्रियां अपिधीँर्वनिषीष्ट मेधिर आ वनिषीष्ट मेधिरः ॥

[यत् द्विता] जब कि इसकी द्विविध शक्तिमें, [कीस्तास अभि द्यव] कीर्त्तन करनेवाले और साथ ही प्रकाशसे युक्त, [नमस्यन्त भृगव] नमस्कार करते हुए भृगुगणने—ज्वालामय ऋषियोने [ईं उप ओचन्त] इसको अपने वचन कहे, [दाशा मथ्नन्त] जब उन्होने इसे अपने दान-पूजनद्वारा मथा, [भृगव] **ज्वालामय** ऋषियोने, तो [अग्नि वसूना ईशे] **अग्नि** ऐश्वर्योका अधिपति हो गया, [य शुचि एषा धर्णि] जो कि पवित्र अग्नि इन्हे अपनेमें धारण करनेवाला है, [मेधिर अपिधीन् वनिषीष्ट] मेधायुक्त वह अपनेपर रखी वस्तुओका उपभोग करता है [प्रियान्] और वे उसे प्रिय लगती है, [मेधिर आ वनिषीष्ट] अपनी मेधामें, ज्ञानमे, वह उनका आनन्द लेता है।

(८)

विश्वासा त्वा विशा पतिं हवामहे
सर्वासा समान दम्पतिं भुजे सत्यगिर्वाहस भुजे।
अतिथिं मानुषाणा पितुर्न यस्यासया।
अमी च विश्वे अमृतास आ वयो हव्या देवेष्वा वय ॥

[त्वा विश्वासा विशा पतिं हवामहे] तुझे, सब प्रजाओंके पतिको हम पुकारते है, [सर्वासा समान दम्पतिं] जो तू उपभोग करनेके लिये उन सबका समान गृहपति है, [भुजे सत्यगिर्वाहस] और उपभोग करनेके लिये सत्य वाणियोको ले जानेवाला है—[मानुषाणा अतिथिं] जो तू मनुष्योका **अतिथि** है, [यस्य आसया पितु न अमी च विश्वे अमृतास आ] जिसकी उपस्थितिमें, जैसे कि पिताकी उपस्थितिमें, ये सब **अमर** देव भी आ जाते है [हव्या वय] और हमारी हवियोको अपना भोजन बनाते है, [देवेषु वय आ] **देवो** में वे (हविया) उनका भोजन हो जाती है।

(९)

त्वमग्ने सहसा सहन्तमः
शुष्मिन्तमो जायसे देवतातये रयिर्न देवतातये।
शुष्मिन्तमो हि ते मदो द्युम्निन्तम उत क्रतु।
अध स्मा ते परि चरन्त्यजर श्रुष्टीवानो नाजर॥

[अग्ने त्व सहसा सहन्तम] हे अग्ने! तू अपने वलसे वलिष्ठ है, [देवतातये शुष्मिन्तम जायसे] देवोंके निर्माणके लिये तू अत्यत शक्तिशाली होकर उत्पन्न हुआ है, [देवतातये रयि न] मानो देवोंके निर्माणके लिये तू ऐश्वर्य-रूप है, [ते मद शुष्मिन्तम हि] तेरा आनन्दोल्लास नि सदेह अत्यत शक्तिशाली है, [उत क्रतु द्युम्निन्तम] और तेरा सकल्प अत्यत प्रकाशपूर्ण है। [अध ते परि चरन्ति स्म अजर] इसलिये वे तेरी सेवा करते है हे अजर अग्ने, [श्रुष्टीवान न अजर] मानो तेरी वाणीको सुननेवाले वे तेरी सेवा करते है, हे अजर अग्ने!

(१०)

प्र वो महे सहसा सहस्वत
उषर्बुधे पशुषे नाग्नये स्तोमो बभूत्वग्नये।
प्रति यदीं हविष्मान् विश्वासु क्षासु जोगुवे।
अग्रे रेभो न जरत ऋषूणां जूर्णिर्होत ऋषूणाम्॥

[महे सहसा सहस्वते] महान्, अपने वलद्वारा वली [उषर्बुधे अग्नये] और उषामें जागनेवाले अग्निके लिये, [पशुषे न] जैसे किसी दर्शन-शक्तिवालेके लिये, [व स्तोम- प्र बभूतु] तुम्हारा स्तोत्र प्रकृष्टतासे होवे। [यत् ईं] जब कि [हविष्मान्] हविको देनेवाला [विश्वासु क्षासु] सब भूमिकाओंमें [प्रति जोगुवे] उसके प्रति पुकारता है, [ऋषूणा अग्ने] तो ज्ञानियोंके सम्मुख वह [रेभ न] जैसे कि कोई वन्दी (स्तोत्रगायक) [जरते] हमारे स्तोत्र गाता है, [ऋषूणा होता जूर्णि] ज्ञानियोंका वह होता, आवाहन-पुरोहित, जो कि उनके स्तोत्र गानेवाला है।

(११)

स नो नेदिष्ठं ददृशान आ भरा-
ऽग्ने देवेभि सचना सुचेतुना महो राय सुचेतुना।
महि शविष्ठ नस्कृधि सचक्षे भुजे अस्यै।
महि स्तोतृभ्यो मघवन् त्सुवीर्यं मथीरुग्रो न शवसा॥

[स ददृशान] अब दृश्यमान होता हुआ वह तू [अग्ने] हे अग्ने! [देवेभि सचना] उन धनोको जो कि सदा देवोंके साथ रहते हैं [सु-चेतुना] अपनी पूर्ण चेतनाके द्वारा [न नेदिष्ठ आ भर] हमारे अत्यत समीप ले आ, [मह राय सुचेतुना] उन महान् धनोको अपनी पूर्ण चेतनाके द्वारा। [शविष्ठ] हे अत्यत वलिन् अग्ने! [न महि कृधि] हमारे लिये जो महान् है उसे रच [स चक्षे अस्मै भुजे] हमारे दर्शन-के लिये, इस पृथ्वीके उपभोगके लिये, [स्तोतृभ्य] अपने स्तोताओंके लिये, [मघवन्] हे ऐश्वर्यके अधिपति! [महि सुवीर्यं मथी] तू महान् वीरत्व-बलको मथ निकाल [उग्र न शवसा] जैसे कि कोई उग्र बली अपने बलसे युक्त हुआ हुआ करता है।

गृत्समद ऋषिके आग्नेय सूक्त

मंडल २

सूक्त १

(१)

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि ।
त्व वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्व नृणा नृपते जायसे शुचि ॥

[त्वम् अग्ने] तू हे **अग्नि** ! [द्युभि] दीप्तियोके साथ पैदा होता है, [त्वम् आशुशुक्षणि] तू अपने तेजसे हमपर चमकता है, [त्वम् अद्भ्य] तू जलोंके अदरसे पैदा होता है, [त्वम् अश्मन परि] तू पत्थरके चारो ओर पैदा होता है, [त्व वनेभ्य, त्वम् ओषधीभ्य] तू वनोंसे और तू पृथ्वीके पौधोंसे पैदा होता है। [त्व नृणा नृपते] तू हे मनुष्यके और मानवजातिके सरक्षक ! [शुचि जायसे] जन्मसे पवित्र है।

(२)

तवाग्ने होत्र तव पोत्रमृत्विय तव नेष्ट्र त्वमग्निदृतायत ।
तव प्रशास्त्र त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे ॥

[तव अग्ने होत्रम्] तेरे ही हे **अग्नि** ! आह्वान और हवि है, [तव पोत्रम् ऋत्वियम्] तेरा ही पवित्रीकरण और यज्ञ-विधान है, [तव नेष्ट्रम्] तेरा ही शोधन है, [त्व अग्निद् ऋतायत] तू सत्यके अन्वेष्टा-के लिये अग्न्याहर्ता है। [तव प्रशास्त्रम्] प्रशासन तेरा ही है, [त्वम् अध्वरीयसि] तू यात्राविधि बनता है[१] [ब्रह्मा च असि] तू शब्दका ऋत्विक् है [गृहपति च न दमे] और हमारे घरमें गृहपति है।

(३)

त्वमग्न इन्द्रो वृषभ सतामसि त्व विष्णुरुरुगायो नमस्य ।
त्व ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्व विधर्त सचसे पुरन्ध्या ॥

---

[१]या तू यात्रा-कर्मका पुरोहित है।

[त्वम् अग्ने इन्द्र असि] हे **अग्नि**! तू इन्द्र है जो कि [वृषभ सताम्] सब सत्ताधारियोका बैल है, [त्व विष्णु उरुगाय] तू विशाल गतिवाला[1] विष्णु है, [नमस्य] नमस्कारद्वारा पूजनीय है। [ब्रह्मणस्पते] ऐ शब्दके अधिपति! [त्व ब्रह्मा] तू ब्रह्मा है [रयिवित्] ऐश्वर्योंका अधिगन्ता है, [विधर्त] हे प्रत्येकके तथा सबके विधारयिता अग्नि! [त्व पुरध्या सचसे] तू अनेक-विचारोकी देवी[2]का अतरग साथी है।

(४)

त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्व मित्रो भवसि दस्म ईड्य ।
त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य सभुज त्वमशो विदथे देव भाजयु ॥

[त्वम् अग्ने राजा वरुण] तू ही हे अग्नि! वह वरुण राजा है जो [धृतव्रत] सब क्रियाओंके नियमको अपने हाथोमें लिये है, [त्व मित्र भवसि] तू ही **मित्र** होता है, जो कि [दस्म] सशक्त तथा [ईड्य] वाछनीय देव है। [त्वम् अर्यमा] तू ही वह **अर्यमा** है जो कि [सत्पति] सत्ताधारियोका पति है [यस्य सभुजम्] और जिसके साथ पूर्ण आनद है, [त्व देव] तू हे देव! [अश] **अश** है [विदथे भाजयु] जो कि ज्ञानकी विजयमें हमें हमारा भाग प्रदान करता है।

(५)

त्वमग्ने त्वष्टा विधते सुवीर्यं तव ग्नावो मित्रमह सजात्यम् ।
त्वमाशुहेमा ररिषे स्वश्व्य त्व नरा शर्धो असि पुरूवसु ॥

[त्वम् अग्ने त्वष्टा] तू हे अग्नि! **त्वष्टा** है, और तू [विधते सुवीर्यम्] अपने पूजकके लिये शक्ति की परिपूर्णताको रचता है, [तव] तेरी ही हैं [मित्रमह] हे मित्रभूत ज्योति! [ग्नाव] शक्तिकी देविया

---

[1] या, विशाल रूपसे गाया हुआ।

[2] या, पुरकी अधिष्ठात्री देवी।

और [सजात्यम्] है सव स्वाभाविक सजातीयता। [त्वम् आशु-हेमा] तू तीव्र प्लुतगतिवाला है और [स्वश्व्य ररिपे] तू घोडेकी उत्तम शक्ति प्रदान करता है, [त्व नरा शर्ध] तू देवो का सैन्य है और [पुरुवसु असि] तू प्रचुर ऐश्वर्यवाला है।

(६)

त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवस्त्व शर्धो मारुत पृक्ष ईशिषे।
त्व वातैररुणैर्यासि शगयस्त्व पूषा विधत पासि नु त्मना॥

[त्वम् अग्ने] तू हे **अग्नि** ! रुद्र है जो कि [मह दिव] महान् द्यौका [असुर रुद्र] शक्तिशाली देव है और [त्व मारुत शर्ध] तू जीवनके देवोका सैन्य है और तू [पृक्ष ईशिषे] सव तृप्तिप्रदाताओ-का प्रभु होता है। [त्व अरुणै वातै यासि] तू अरुण वर्णकी वायुओ-को साथ लेकर यात्रा करता है [शगय] और तेरा घर आनन्दका है, [त्व पूषा] तू **पूषा** है, और तू [त्मना] स्वय अपने आपसे [विधत] अपने पूजकोकी [पासि] रक्षा करता है।

(७)

त्वमग्ने द्रविणोदा अरकृते त्व देव सविता रत्नधा असि।
त्व भगो नृपते वस्व ईशिषे त्व पायुर्दमे यस्तेऽविधत्॥

[त्वम् अग्ने] तू हे **अग्नि** ! [अरकृते] उसे जो अपने कर्मोंको सज्जित तथा पर्याप्त बनाता है [द्रविणोदा] खजाना दे देनेवाला है, [त्व देव सविता] तू दिव्य **सविता** है और [रत्नधा असि] आनन्दका प्रतिष्ठापक है। [त्व नृपते] तू हे मनुष्यके सरक्षक ! [भग] **भग** है और [वस्व ईशिषे] ऐश्वर्योंका प्रभु है, [त्व दमे पायु] तू घर-के अन्दर सरक्षक होता है [य ते अविधत्] उसका जो कि अपने कर्मो-से तेरी पूजा करता है।

(८)

त्वामग्ने दम आ विश्पतिं विशस्त्वा राजानं सुविदत्रमृञ्जते।
त्वं विश्वानि स्वनीक पत्यसे त्वं सहस्राणि शता दश प्रति॥

[दमे] अपने घरमें [विश्पतिं त्वा] मानवके अधिपति तुझ, तेरे प्रति [अग्ने] हे अग्नि! [विश] मनुष्य [आ] अभिमुख होते हैं, [सुविदत्र राजानं त्वाम्] पूर्ण ज्ञानवाले तुझ राजाको, [ऋञ्जते] वे राज्याभिषिक्त करते हैं। [स्वनीक] ओ अग्निकी ज्वलन्त शक्ति! [त्वं विश्वानि पत्यसे] तू सब वस्तुओंकी अधिपति है, [त्वं सहस्राणि शता दश प्रति] तू हजारों, सैकडों और दसोंके प्रति गति करती है।

(९)

त्वामग्ने पितरमिष्टिभिर्नरस्त्वा भ्रात्राय शम्या तनूरुचम्।
त्वं पुत्रो भवसि यस्तेऽविधत् त्वं सखा सुशेवः पास्याधृषः॥

[त्वाम् अग्ने] तुझे हे अग्नि! [पितरम्] पिताके रूपमें [इष्टिभिः] अपने यज्ञोंके द्वारा [नरः] मनुष्य (पूजते हैं), और वे [तनूरुचं त्वाम्] शरीरको प्रकाशसे चमका देनेवाले तुझे [शम्या] अपने कर्मोंके द्वारा (पूजते हैं) [भ्रात्राय] जिससे कि तू उनका भाई बन सके। [त्वं पुत्रः भवसि] तू पुत्र हो जाता है [यः ते अविधत्] उसका जो तेरी पूजा करता है, [त्वं सुशेवः सखा] तू उसका सुखमय सखा हो जाता है और [आधृषः] शत्रुकी हिंसासे [पासि] उसकी रक्षा करता है।

(१०)

त्वमग्न ऋभुराके नमस्यस्त्वं वाजस्य क्षुमतो राय ईशिषे।
त्वं वि भास्यनु दक्षि दावने त्वं विशिक्षुरसि यज्ञमातनिः॥

[त्वम् अग्ने] तू हे अग्नि! [ऋभुः] ऋभु शिल्पी है, [आके] हमारे समीप है और [नमस्यः] समर्पणके नमनद्वारा पूजन करने योग्य है, [त्वं] तू [वाजस्य क्षुमतः] प्रचुर समृद्धियोंके खजानेका और

[राय] ऐश्वर्योका [ईशिषे] प्रभु है, [त्वम्] तू [दावने] अपने खजानेको प्रदान करनेके लिये ही [विभासि) विपुल चमकसे चमकता है और [अनुदक्षि] पुन प्रज्वलित होता है, [त्व विशिक्षु असि] तू हमारा ज्ञान-शिक्षक है और [यज्ञम्-आतनि] हमारा यज्ञका निर्माता है।

(११)

त्वमग्ने अदितिर्देव दाशुषे त्व होत्रा भारती वर्धसे गिरा।
त्वमिळा शतहिमासि दक्षसे त्व वृत्रहा वसुपते सरस्वती ॥

[देव अग्ने] हे दिव्य **अग्नि**! [दाशुषे] हवि देनेवालेके लिये [त्व अदिति] तू **अदिति** है, अखण्डनीय **माता** है, [त्व भारती] तू **भारती** है, [होत्रा] हविकी वाणी है, [वर्धसे गिरा] और तू **शब्दसे** प्रवृद्ध होता है। [त्व शतहिमा इडा असि] तू सौ हेमन्तोवाली **इडा** है [दक्षसे] जो कि विवेचन-समर्थ है, [वसुपते] ओ खजानेके अधि-पति! [त्व सरस्वती] तू **सरस्वती** है, जो कि तू [वृत्रहा] वृत्र-शत्रुको विनष्ट कर देता है।

(१२)

त्वमग्ने सुभृत उत्तम वयस्तव स्पार्हे वर्णे आ सदृशि श्रिय ।
त्व वाज प्रतरणो बृहन्नसि त्व रयिर्बहुलो विश्वतस्पृथु ॥

[अग्ने] हे **अग्नि**! [त्व सुभृत] जब तू हमसे सम्यक्तया धारण कर लिया जाता है तब तू [उत्तम वय] हमारी सत्ताकी सर्वोत्तम वृद्धि तथा विस्तार बन जाता है, [श्रिय] सब शोभायें और सौन्दर्य [तव स्पार्हे वर्णे] तेरे स्पृहणीय वर्णमें और [सन्दृशि] पूर्ण दर्शन में ही है। [बृहन्] ओ विस्तारमय! [त्व वाज असि] तू वह समृद्धि है जो कि [प्रतरण] हमें हमारे मार्गके अन्ततक ले जाती, पहुचाती है, [त्व बहुल रयि] तू वह विपुल ऐश्वर्य है जो [विश्वत पृथु] सब ओर फैला हुआ है।

(१३)

त्वामग्न आदित्यास आस्य त्वां जिह्वा शुचयश्चक्रिरे कवे।
त्वां रातिषाचो अध्वरेषु सश्चिरे त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम्॥

[त्वाम् अग्ने] तुझे हे अग्नि! [आदित्यास] अखण्डनीय माता, अदितिके पुत्रोने [आस्य चक्रिरे] मुख बनाया है, [शुचय] पवित्र देवोने [त्वा जिह्वा चक्रिरे] तुझे जिह्वा बनाया है, [कवे] हे द्रष्टा! [रातिषाच] वे जो कि हमारे हवि-दानसे सदा सयुक्त होते है [अध्वरेषु] दिव्य मार्गके कर्मो में [त्वा सश्चिरे] तेरे साथ नित्य रहते है, [दिवा] देव [त्वे] तुझमें ही [आहुत हवि] अपने सम्मुख डाली हुई हविको [अदन्ति] खाते है।

(१४)

त्वे अग्ने विश्वे अमृतासो अद्रुह आसा देवा हविरदन्त्याहुतम।
त्वया मर्तास स्वदन्त आसुतिं त्वं गर्भो वीरुधा जज्ञिषे शुचिः॥

[अग्ने] हे अग्नि! [त्वे] तुझमें ही [विश्वे अमृतास देवा] सब अमर देव [अद्रुह] जो कि मनुष्यके लिये हानिप्रद नही है [आसा] तेरे मुखद्वारा [आहुत हवि अदन्ति] अपने सम्मुख डाली हुई हविको खाते है, [त्वया] तेरे द्वारा [मर्तासि] मरणधर्मा मनुष्य [आसुतिं स्वदन्त] सोमपानका आस्वादन करते हैं। [वीरुधा गर्भ त्वम्] पौधोका पुत्र तू [शुचि जज्ञिषे] पवित्र पैदा हुआ है।

(१५)

त्व तान् त्सं च प्रति-चासि मज्मनाऽग्ने सुजात प्र च देव रिच्यसे।
पृक्षो यदत्र महिना वि ते भुवदनु द्यावापृथिवी रोदसी उभे॥

[सुजात अग्न] हे पूण जन्मको प्राप्त अग्नि! [त्व तान् सम् असि] तू उन देवोके साथ होता है [प्रति च असि मज्मना] और अपनी शक्तिमें भरकर तू उनके सम्मुख आता है, [प्र रिच्यसे च] और तू उनसे

आगे भी निकल जाता है, [देव] हे देव! [यत् अत्र] जब कि यहा [पृक्ष] तेरी तृप्तिप्रद परिपूर्णता [महिना] अपनी महत्ताके साथ [उभे रोदसी द्यावा-पृथिवी अनु] दोनो लोको, द्यौ और पृथिवी, पर [वि भुवत्] व्याप जाती है।

(१६)

ये स्तोतृभ्यो गोअग्रामश्वपेशसमग्ने रातिमुपसृजन्ति सूरय।
अस्माञ्च ताश्च प्र हि नेषि वस्य आ बृहद् वदेम विदथे सुवीरा ॥

[अग्ने] हे अग्नि! जब [स्तोतृभ्य] उनके लिये जो तेरा स्तुति-गान करते हैं [सूरय] प्रकाशयुक्त विद्वान् [रातिम् उपसृजन्ति] तेरी उस देनको बरसाते हैं [गोअग्राम्] जिसके अग्रभाग में **किरणरूपी गाय** चलती है और [अश्वपेशसम्] जिसका रूप **घोड़ेका** है, तब तू [अस्मान् च तान् च] हमें और उनको [वस्य प्र आनेषि] उस लोकमें ले आता है जो महत्तर ऐश्वर्योंका है। [सुवीरा] वीरोंके बलसे सबल हुए हुए हम [विदथे] ज्ञानके आगमनपर [बृहद् वदेम] बृहत्का उदीरण कर सके, कीर्त्तन कर सके।

सूक्त २

(१)

यज्ञेन वर्धत जातवेदसमग्निं यजध्वं हविषा तना गिरा।
समिधानं सुप्रयसं स्वर्णरं द्युक्षं होतारं वृजनेषु धूर्षदम् ॥

[यज्ञेन] अपने यज्ञके द्वारा [जातवेदसं अग्निम्] उस अग्निको जो कि सब वस्तुओको जानता है [वर्धत] बढाओ, [यजध्वं] उसकी पूजा करो [हविषा] अपनी हविद्वारा, [तना] अपने शरीरद्वारा [गिरा] और अपनी वाणीद्वारा। पूजा करो [समिधानम्] प्रदीप्त होते हुए अग्निकी [सुप्रयसम्] जो दृढ आनदोंसे युक्त है, [स्वर्णरम्] जो सूर्य-

लोकका पुरुष है [होतारम्] जो आवाहन का पुरोहित है, [द्युक्षम्] जो द्यौका वासी है[1] [वृजनेषु धूर्षदम्] और जो हमारे युद्धोमें रथके धुरेपर बैठनेवाला है।

(२)

अभि त्वा नक्तीरुषसो ववाशिरेऽग्ने वत्स न स्वसरेषु धेनव ।
दिव इवेदरतिर्मानुषा युगा क्षपो भासि पुरुवार सयत ॥

[नक्ती उषस] रात्रिया और उषाए [त्वा अभि ववाशिरे] तेरे प्रति शब्द करती है, रभाती है [न] जैसे [स्वसरेषु] अपने विश्राम-गृहोमें [धेनव] दुधार गौए [वत्स] अपने बछडेके प्रति। [पुरुवार अग्ने] हे अनेक वरोवाले अग्नि! तू [मानुषा युगा] मानव के युगोमें [दिव इवेत् अरति] द्युलोकका यात्री है, और तू [सयत] सयत होकर [क्षप भासि] उसकी रात्रियोके बीचमे चमकता है, प्रकाशित होता है[2]।

(३)

त देवा बुध्ने रजस सुदसस दिवस्पृथिव्योररतिं न्येरिरे।
रथमिव वेद्य शुक्रशोचिषमग्नि मित्र न क्षितिषु प्रशंस्यम् ॥

[देवा] देवोने [त सुदससम्] उस महान् कर्मकर्ता तथा [दिवस्पृथिव्यो अरतिम् अग्निम्] द्यौ और पृथिवीके यात्री अग्निको [रजस बुध्ने] मध्य-लोकके आधार-स्थलमें [न्येरिरे] प्रेरित किया, पहुचा दिया है [शुक्रशोचिष रथमिव] इस तरह जैसे कि वह हमारा शुभ्र ज्वालाओ-वाला एक रथ है, [वेद्यम्] जिसका जानना हमारे लिये आवश्यक है, और जो [क्षितिषु] मनुष्योंके बीचमें [मित्र न] एक मित्रकी तरह [प्रशस्यम्] हमसे स्तुतिपूर्वक कीर्तन करने योग्य है।

---

[1]अथवा, जो प्रकाशमें निवास करनेवाला है।

[2]या, सयत होकर तू उसकी रात्रियोको चमका देता है, प्रकाशित कर देता है।

(४)

तमुक्षमाण रजसि स्व आ दमे चन्द्रमिव सुरुच ह्वार आ दधु ।
पृश्न्या पतर चितयन्तमक्षभि पाथो न पायु जनसी उभे अनु ॥

[रजसि] मध्य-लोकमें और [स्वे दमे] अपने निज घरमें [उक्ष-माण] वर्षा करते हुए [चन्द्रमिव सुरुचम्] सुवर्णकी तरह प्रकाशकी कान्तिसे युक्त' [तम्] उसको [ह्वारे आ दधु] उन्होने कुटिलताके बीचमे निहित कर दिया है, उसको [पृश्न्या पतरम्] जो कि चित-कबरी माताका सरक्षक है, [अक्षभि चितयन्तम्] जो अपनी दर्शनकी आखोसे हमें ज्ञानकी जागृति देनेवाला है, और जो [उभे जनसी अनु] दोनो जन्मोमें [पाथ पायु न] हमारे पथका रक्षकवत् है।

(५)

स होता विश्वं परि भूत्वध्वर तमु हव्यैर्मनुष ऋञ्जते गिरा।
हिरिशिप्रो वृधसानासु जर्भुरद् द्यौर्न स्तृभिश्चितयद् रोदसी अनु ॥

[स] वह अग्नि [होता] हमारा आवाहनका पुरोहित बन जाये, [विश्व अध्वर परिभूतु] प्रत्येक यात्रा-कर्मके चारो ओर व्याप जाये, [तमु] उसे [मनुष] मनुष्य [गिरा] वाणीसे तथा [हव्यै] हवियोंसे [ऋञ्जते] अभिषिक्त करते है। [हिरिशिप्र] स्वर्णज्योतिके अपने मुकुटको पहने हुए वह [वृधसानासु] अपनी वृद्धिगत ज्वालाओमें [जर्भुरत्] क्रीडा करेगा, [स्तृभि द्यौ न] नक्षत्रो सहित द्यौ लोककी तरह वह [उभे रोदसी अनु] दोनो विधारक लोकोमें [चितयत्] हमें हमारे पथको दिखायगा, चेतायगा।

(६)

स नो रेवत् समिधान स्वस्तये सददस्वान् रयिमस्मासु दीदिहि।
आ न कृणुष्व सुविताय रोदसी अग्ने हव्या मनुषो देव वीतये ॥

'या, उस [चन्द्रमिव] एक ऐसी आनदकी वस्तुकी तरह जो कि [सुरुचम्] उज्ज्वल कातिसे युक्त है।

[अग्ने] हे अग्नि! [स्वस्तये] हमारी शातिके लिये [रिवत् समिवान] प्रचुरताके साथ प्रदीप्त होता हुआ तू [अस्मासु दीदिहि] हमारे अदर अपनी ज्योतिको ऊचा उठा और [रयिं सददस्वान्] अपने ऐश्वर्यों-के दानको ला। [रोदसी] पृथिवी और द्यौको [न सुविताय कृणुष्व] हमारी सुखमय यात्राके मार्ग वना दे और [दिव] हे देव! [मनुष हव्या] मनुष्यकी हवियोको [वीतये कृणुष्व] देवोंके आगमनका सावन वना दे।

(७)

दा नो अग्ने वृहतो दा सहस्त्रिणो दुरो न वाज श्रुत्या अपा वृधि।
प्राची द्यावापृथिवी ब्रह्मणा कृवि स्वर्ण शुक्रमुषसो वि दिद्युतु.॥

[अग्ने] हे अग्नि! [न वृहत दा] तू हमें विस्तृत ऐश्वर्य प्रदान कर, [सहस्त्रिण दा] सहस्रगुणित ऐश्वर्य प्रदान कर, [श्रुत्यै] अतर्ज्ञानके लिय [वाज] ऐश्वर्यको [दुर न] दरवाजोकी तरहसे [अपावृधि] खोल दे, [द्यावापृथिवी] पृथिवी और द्यौको [ब्रह्मणा] शब्दके द्वारा [प्राची कृधि] परके उन्मुख कर दे। [उपस विदिद्युतु] उषायें देदीप्यमान हो उठी है [शुक्र स्व न] मानो उज्ज्वल सूर्यलोक जगमगा उठा हो।

(८)

स इधान उषसो राम्या अनु स्वर्ण दीदेदरुषेण भानुना।
होत्राभिरग्निर्मनुष. स्वध्वरो राजा विशामतिथिश्चारुरायवे॥

[राम्या उपस अनु इधान स] रमणीय उषाओंके प्रवर्तनके साथ प्रदीप्त हुआ हुआ वह [स्व न] सूर्यलोककी तरह [अरुषेण भानुना दीदेत्] अरुण कान्तिसे जगमगा उठेगा। हे अग्नि! [मनुष होत्राभि] मनुष्य-की यज्ञ-वाणियोद्वारा [स्वध्वर] यात्रा-कर्मको फलोत्पादक वनाता हुआ तू [विशा राजा] प्रजाओका राजा है, और [आयवे चारु अतिथि] मनुष्यके लिये आनदप्रद अतिथि है।

(९)

एवा नो अग्ने अमृतेषु पूर्व्य धीष्पीपाय बृहद् दिवेषु मानुषा।
दुहाना धेनुर्वृजनेषु कारवे त्मना शतिन पुरुरूपमिषणि ॥

[एव] इसी प्रकार [पूर्व्य अग्ने] हे प्राचीन अग्नि! [धी] **विचारने** [न मानुषा] हमारी मर्त्य वस्तुओको [बृहद्दिवेषु] बृहत् **द्युलोकोंमें**, [अमृतेषु] अमृतोमे [पीपाय] पालित-पोषित किया है। वह **विचार** [धेनु] हमारी दुधार गाय है, वह [कारवे] कर्मोके कर्ताके लिये [वृजनेषु] उसके युद्धोमें तथा [इषणि] उसकी यात्रा-गतिमें [त्मना] स्वय [पुरुरूप] अनेक रूपोवाले और [शतिनम्] सैकडो खजानोको [दुहाना] दुह देती है।

(१०)

वयमग्ने अर्वता वा सुवीर्यं ब्रह्मणा वा चितयेमा जनाँ अति।
अस्माक द्युम्नमधि पञ्च कृष्टिषूच्चा स्वर्ण शुशुचीत दुष्टरम् ॥

[अग्ने] हे अग्नि! [वयम्] हम [वा] या तो [अर्वता] **युद्धके घोड़े**द्वारा [सुवीर्यम्] वीरोचित शक्तिको जीत लेवे [वा] अथवा [ब्रह्मणा] **शब्द**द्वारा [जनान् अति] मनुष्योंसे परे जाकर [चितयेम] ज्ञानमें जागृत हो जायें[1], [अस्माक द्युम्नम्] हमारी ज्योति [उच्चा] उच्च होकर तथा [स्व न दुष्टरम्] सूर्य-लोककी तरह अदम्य होकर [पञ्चकृष्टिषु] **पाचों जातियों**के अदर [शुशुचीत] चमक उठे।

(११)

स नो बोधि सहस्य प्रशस्यो यस्मिन् त्सुजाता इषयन्त सूरय।
यमग्ने यज्ञमुपयन्ति वाजिनो नित्ये तोके दीदिवास स्वे दमे ॥

---

[1]अथवा, [अर्वता वा ब्रह्मणा वा] **युद्धके घोड़े**की शक्तिद्वारा या **शब्द**द्वारा [वय] हम [सुवीर्यं चितयेम] अपने अदर वीरोचित शक्तिको जागृत कर लेवे, जो कि [जनान् अति] मनुष्योंके क्षेत्रसे परे है।

[सहस्य] हे शक्तिमान् अग्नि! [न प्रशस्य] हमारी प्रशस्तियोद्वारा स्तुत किया जानेवाला तू [बोधि] जागृत हो जा, क्योकि तू [स] वह है [यस्मिन्] जिसके अदर [सूरय] प्रकाशमान द्रष्टा [सुजाता] पूर्ण जन्मको प्राप्त कर लेते है और [इषयन्त] अपने मार्गपर सवेग अग्रसर हो जाते है। [अग्ने] हे अग्नि! [य यज्ञ] जो तू यज्ञ-रूप है उस तेरे पास [वाजिन] तीव्रताके घोडे वहा [उपयन्ति] पहुचते है, जहा कि तू [नित्ये तोके] नित्य पुत्रमें और [स्वे दमे] अपने निजी घरमें [दीदिवासम्] दीप्तिके साथ चमक रहा होता है।

(१२)

उभयासो जातवेद स्याम ते स्तोतारो अग्ने सूरयश्च शर्मणि।
वस्वो राय पुरुश्चन्द्रस्य भूयस प्रजावत स्वपत्यस्य शग्धि न ॥

[अग्ने] हे अग्नि! [जातवेद] हे सब उत्पन्न वस्तुओको जाननेवाले देव! [उभयास] हम दोनो ही [ते शर्मणि स्याम] तेरी शातिमें निवास करे, [स्तोतार सूरय च] वे जो कि तेरे स्तोता है तथा जो प्रकाशमान द्रष्टा है। [न] हमें [भूयस राय] बहुतसी समृद्धियोंसे युक्त [पुरुश्चन्द्रस्य] अनेक आनदोंसे युक्त [प्रजावत] प्रजाओसे युक्त [स्वपत्यस्य] सन्तानोंसे युक्त [वस्व] खजानेको प्राप्त करानेके लिये [शग्धि] तू शक्तिमान् हो।

(१३)

ये स्तोतृभ्यो गोअग्रामश्वपेशसमग्ने रातिमुपसृजन्ति सूरय।
अस्माञ्च ताश्च प्र हि नेषि वस्य आ बृहद् वदेम विदथे सुवीरा ॥

[अग्ने] हे अग्नि! जब [स्तोतृभ्य] उनके लिये जो कि तेरी स्तुति करते हैं [सूरय] प्रकाशमान द्रष्टा [रातिम् उपसृजन्ति] उस दानको मुक्त करते है [गोअग्राम्] जिसके आगे आगे किरण-रूपी गाय चलती है तथा [अश्वपेशसम्] जिसका रूप घोडेका है, तब तू [अस्मान च तान् च] हमे और उनको भी [वस्य प्र नेषि] उस लोकमे पहुचा

देता है जो कि प्रचुर ऐश्वर्योंका है। ऐसी कृपा कर कि [सुवीरा] वीरोकी शक्तिसे सबल हुए-हुए हम [विदथे] ज्ञानके आगमनपर [बृहत् वदेम] बृहत् का उदीरण कर सके, कीर्त्तन कर सके।

सूक्त ३

(१)

समिद्धो अग्निर्निहित पृथिव्या प्रत्यङ विश्वानि भुवनान्यस्यात्।
होता पावक प्रदिव सुमेधा देवो देवान् यजत्वग्निरर्हन् ॥

[अग्नि] अग्नि [निहित पृथिव्या] जो कि पृथ्वीके अन्दर निहित किया गया था [समिद्ध] प्रदीप्त हो गया है, और वह [विश्वानि भुवनानि प्रत्यङ] समस्त लोकोंके सम्मुख [अस्यात्] उदित हो गया है। वह अग्नि [पावक] एक पवित्र करनेवाली ज्वाला है, [होता] आवाहनका पुरोहित है, [सुमेधा] मेधावान् है, [प्रदिव] दिनोमें प्राचीन है। आज [अग्नि] वह अग्नि [देव] वह देव [अर्हन्] अपनी शक्तियोमें पूर्ण होता हुआ [देवान् यजतु] देवोंके प्रति यज्ञको करे।

(२)

नराशस प्रति धामान्यञ्जन् तिस्रो दिव प्रति मह्ना स्वर्चि ।
घृतप्रुषा मनसा हव्यमुन्दन् मूर्धन् यज्ञस्य समनक्तु देवान् ॥

[नराशस] अग्नि जो कि परम देवका शसन करनेवाला है [प्रति धामानि अञ्जन्] लोकोको एक एक करके व्यक्त करता हुआ चमकता है, [स्वर्चि] उत्कृष्ट किरणवाला वह [मह्ना] अपनी महत्तासे [प्रति तिस्र दिव] तीनो द्युलोकोको एक एक करके व्यक्त करता हुआ। हम चाहते हैं कि वह [घृतप्रुषा मनसा] प्रकाशको फैलानेवाले मनसे [हव्यम् उन्दन्] हविको परिप्लावित कर दे, और [यज्ञस्य मूर्धन्] यज्ञके सिरपर [देवान्] देवोको [समनक्तु] अभिव्यक्त कर दे।

(३)

ईळितो अग्ने मनसा नो अर्हन् देवान् यक्षि मानुषात् पूर्वो अद्य।
स आ वह मरुतां शर्धो अच्युतमिन्द्रं नरो बर्हिषद यजध्वम् ॥

[अग्ने] हे अग्नि! [न मनसा ईडित] हमारे मनके द्वारा अभीप्सित तू [अद्य] आज [अर्हन्] शक्तिको व्यक्त करता हुआ [देवान् यक्षि] देवोंके प्रति यज्ञ कर, वह तू जो कि [मानुषात् पूर्व] किसी भी मानवभूत वस्तुसे पूर्व था। [स] वह तू हमें [मरुताम् अच्युत शर्ध] जीवनके देवोंके अच्युत सैन्यको [आवह] प्राप्त करा दे, और [नर] ऐ शक्तियो! तुम [इन्द्र यजध्वम्] इन्द्रका यजन करो [वर्हिषदम्] जब कि वह हमारी वेदिके आसनपर स्थित है।

(४)

देव बर्हिर्वर्धमान सुवीर स्तीर्णं राये सुभर वेद्यस्याम्।
घृतेनाक्तं वसव सीदतेद विश्वे देवा आदित्या यज्ञियास ॥

[देव] हे देव! [अस्या वेदी] इस वेदिपर [वर्हि स्तीर्णम्] यह आसन विछा है, [सुवीर] वह वीरोंसे रक्षित आसन [वर्धमानम्] जो कि सदा वृद्धिको पाता रहता है, वह आसन जो कि [घृतेन अक्तम्] प्रकाशसे लिप्त किया हुआ [राये] ऐश्वर्योंके लिये [सुभरम्] सम्यक् प्रकारसे भरपूर है।' [विश्वे देवा] हे समस्त देवो! [आदित्या] हे अखण्डनीय माता, अदिति, के पुत्रो! [वसव] हे खजानेके राजपुत्रो! [यज्ञियास] हे यज्ञके राजाओ! [इद सीदत] वेदिपर विछे इस आसनपर बैठो।

(५)

वि श्रयन्तामुर्विया हूयमाना द्वारो देवी सुप्रायणा नमोभिः।
व्यचस्वतीर्वि प्रयन्तामजुर्या वर्णं पुनाना यशस सुवीरम् ॥

'अथवा, [राये] ऐश्वर्य-प्राप्तिके लिये [सुभरम्] धारण करनेके लिये सुदृढ बनाया गया है।

[देवी द्वार] दिव्य दरवाजे [विश्रयन्ताम्] झूलते हुए खुल जावे [उर्विया] विस्तृत रूपसे खुल जावे [हूयमाना] जो कि हमसे आह्वान किये गये हैं, पुकारे गये है, [नमोभि सुप्रायणा] जो कि हमारे समर्पण-के नमनद्वारा सुप्राप्य है, [व्यचस्वती] अति विशालतामे खुलनेवाले वे द्वार [विप्रथन्ताम्] फैल जावे, खुलकर विस्तृत हो जावे, वे जो कि [अजुर्या] अविनाश्य है, और [यशस सुवीर वर्ण पुनाना] यशस्वी और वीर रूपको पवित्र करनेवाले है।

(६)

साध्वपासि सनता न उक्षिते उषासानक्ता वय्येव रण्विते।
तन्तु तत सवयन्ती समीची यज्ञस्य पेश सुदुघे पयस्वती ॥

[उषासानक्ता] रात्रि और उषा, जो कि [सुदुघे पयस्वती] वहुत दूध देनेवाली दुधैल गौए है, [सनता समीची] सनातन और सरूप वहिनें हैं, [न उक्षिते] हमपर वर्षा करती हुई [वय्या इव] वयित्री स्त्रियोकी तरह [रण्विते] आनन्दसे भरपूर आवे, [तत तन्तु] फैले हुए तानेको, [साधु अपासि] हमारे निष्पन्न कर्मोके सूत्रको, [यज्ञस्य पेश] यज्ञके रूप-में [वयन्ती] बुनती हुई।

(७)

दैव्या होतारा प्रथमा विदुष्टर ऋजु यक्षत समृचा वपुष्टरा।
देवान्यजन्तावृतुथा समञ्जतो नाभा पृथिव्या अधि सानुषु त्रिषु ॥

[दैव्या होतारा] दो दिव्य होता जो कि [प्रथमा] सर्वप्रथम है, [विदुष्टरा] ज्ञानमें पूर्ण तथा [वपुष्टरा] शरीरमें पूर्ण है, [ऋचा] प्रकाश-मान शब्दके द्वारा [ऋजु] सरल वस्तुओको [सयक्षत] हमारे अन्दर देते हैं, [ऋतुथा] समयपर [देवान् यजन्तौ] देवोका यजन करते हुए वे [पृथिव्या नाभा] पृथिवी की नाभिमें और [त्रिषु सानुषु अधि] द्यौके तीनो शिखरोपर [समञ्जत] उन्हे प्रकाशमे व्यक्त कर देते है।

(८)

सरस्वती साधयन्ती धिय न इळा देवी भारती विश्वतूर्ति ।
तिस्रो देवी स्वधया बर्हिरेदमच्छिद्र पान्तु शरण निषद्य ॥

[सरस्वती] **सरस्वती** [साधयन्ती धिय न] हमारे विचारोको सिद्ध करती हुई और [इडा देवी] 'इडा'देवी तथा [भारती विश्वतूर्ति] **भारती** जो कि सबको लक्ष्यपर ले जानेवाली है, [तिस्र देवी] ये तीनो देविया [इद बर्हि आ निपद्य] हमारे इस वेदिके आसनपर बैठकर [स्वधया] वस्तुओंके स्वात्म-नियम द्वारा [अच्छिद्र शरण] हमारे छिद्ररहित शरण-गृहकी [पान्तु] रक्षा करे।

(९)

पिशङ्गरूप सुभरो वयोधा श्रुष्टी वीरो जायते देवकाम ।
प्रजा त्वष्टा वि ष्यतु नाभिमस्मे अथा देवानामप्येतु पाथ. ॥

[श्रुष्टी] शीघ्र ही [वीर जायते] एक **वीर** पैदा हो गया है जो कि [पिशङ्गरूप] सुनहरे-लाल रगका है, [देवकाम] देवोका अभीप्सु है, [सुभर] ऐश्वर्योका सशक्त आनेता है और [वयोधा] हमारी विशालताकी वृद्धिका सस्थापक है। [त्वष्टा] वह रूपोका **रचयिता** [अस्मे] हमारे अन्दर [नाभि विष्यतु] नाभिकी गाठको खोल देवे, [प्रजा विष्यतु] हमारे कर्मोंकी सन्तानको मुक्त कर देवे, [अथा] और उसके बाद वह [देवाना पाथ अप्येतु] देवोंके मार्गपर चलता जावे।[1]

(१०)

वनस्पतिरवसृजन्नुप स्थादग्निर्हवि सूदयाति प्र धीभि.।
त्रिधा समक्त नयतु प्रजानन्देवेभ्यो दैव्य. शमितोप हव्यम् ॥

---

[1]अथवा तब [देवाना पाथ] देवोका मार्ग [अप्येतु] हमें प्राप्त हो जाये।

[वनस्पति] पौधा [अवसृजन् उपस्थात्] रसको प्रस्तुत करता हुआ हमारे पास स्थित है। [अग्नि] अग्नि [धीभि] हमारे विचारोद्वारा [हवि प्रसूदयाति] हविको प्रेरणा दे रहा है। [दैव्य शमिता] वह दिव्य कर्मोंका साधक [प्रजानन्] ज्ञान रखता हुआ [त्रिधा समक्त] त्रि-विधतया प्रकाशमें व्यक्त हुई हुई[1] [हव्य] हविको [देवेभ्य उप नयतु] देवोंके प्रति ले जाये।

(११)

घृत मिमिक्षे घृतमस्य योनिर्घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम।
अनुष्वधमा वह मादयस्व स्वाहाकृत वृषभ वक्षि हव्यम् ॥

मै उस [अग्नि] पर [घृत मिमिक्षे] वेगयुक्त प्रकाशका सिंचन करता हू, क्योकि [घृतम् अस्य योनि] प्रकाश उसका जन्म-स्थान है, [घृते श्रित] वह प्रकाशके अन्दर स्थित है, [घृतम् उ अस्य धाम] प्रकाश उस-का लोक है। [अनुष्वधम्] अपनी स्वात्म-प्रकृतिके अनुसार तू [आवह] देवोको ले आ और [मादयस्व] उन्हे आनन्दसे परिपूर्ण कर दे। [वृषभ] हे बैल! गौओंके पुरुष! [स्वाहाकृत] 'स्वाहा'से कृतार्थ[2] [हव्यम्] हविको [वक्षि] उनके प्रति ले जा।

सूक्त ४

(१)

हुवे व सुद्योत्मान सुवृक्ति विशामग्निमतिथि सुप्रयसम्।
मित्र इव यो विधिषाय्यो भूद्देव आदेवे जने जातवेदा ॥

मैं [व] तुम्हारे प्रति [अग्नि हुवे] उस अग्निका आह्वान करता हू [सुप्रयसम्] जो कि तीव्र आनन्दोसे युक्त है, और [सुद्योत्मान] प्रकाशकी

---

[1]अथवा, त्रिविधतया लिप्त हुई हुई।

[2]अथवा, 'स्वाहा'में परिणत।

दीप्तियोंसे युक्त है, [सुवृक्तिम्] जो हमारे ऊपरसे समग्र पापको उतार फेंकनेवाला है, [विशाम् अतिथिम्] जो प्रजाओंका अतिथि है। [य] जो [दिधिषाय्य मित्र इव अभूत्] आश्रयदायक मित्रकी तरह हो गया है, [दिव अभूत्] देव हो गया है जो कि [आदेवे जने] उस मनुष्यमें जिसके साथ देव है[1] [जातवेदा] सब उत्पन्न वस्तुओंका ज्ञाता है।

(२)

इमं विधन्तो अपां सधस्थे द्वितादधुर्भृगवो विक्ष्वायोः।
एष विश्वान्यभ्यस्तु भूमा देवानामग्निररतिर्जीराश्वः ॥

[भृगव] भृगुओंने [इम] इसे [अपां सधस्थे विधन्त] जलोंके अधिवेशनमें पूजते हुए [आयो विक्षु] मनुष्यकी प्रजाओंके अन्दर [द्वितादधु] द्विविध प्रकाशके तौरसे निहित किया। [एष] यह [विश्वानि भूमा] समस्त विस्तारमें आये हुए लोकोंपर [अभ्यस्तु] आधिपत्य कर ले, जो कि [जीराश्व] अपने तीव्रगामी घोड़ोंके साथ [देवानाम् अरति अग्नि] देवोंका यात्री अग्नि है।

(३)

अग्निं देवासो मानुषीषु विक्षु प्रियं धुः क्षेष्यन्तो न मित्रम्।
स दीदयदुशतीरूर्म्या आ दक्षाय्यो यो दास्वते दम आ ॥

[देवास] देवोंने [अग्निम्] अग्निको [मानुषीषु विक्षु] इन मानवीय प्रजाओंके अन्दर [धु] स्थित कर दिया है, [क्षेष्यन्त प्रियं मित्र न] जैसे कि घरमें बसनेवाले मनुष्य किसी प्रिय मित्रको। [स] वह [ऊर्म्या उशती] तरंगायित रात्रियोंकी कामनाको [आ दीदयत्] देदीप्यमान कर दे, वह [य] जो कि [दास्वते] हवि देनेवालेके लिये [दमे आ] घरमें आहित हुआ हुआ [दक्षाय्य] विवेचक मनसे परिपूर्ण है।

---

[1]अथवा, [आदेवे जने] मनुष्योंसे लेकर देवोंतक सबमें।

(४)

अस्य रण्वा स्वस्येव पुष्टि सदृष्टिरस्य हियानस्य दक्षो ।
वि यो भरिभ्रदोषधीषु जिह्वामत्यो न रथ्यो दोधवीति वारान् ॥

[रण्वा अस्य पुष्टि] आनन्दपूर्ण होती है इसकी वृद्धि [स्वस्य इव] जैसे किसीकी निजी वृद्धि, [रण्वा अस्य सदृष्टि] आनन्दपूर्ण होता है इसका दर्शन [हियानस्य दक्षो] जव कि वह प्रज्वलित होता हुआ अपने मार्गपर प्लुतगतिसे चलता है। [य] जो वह अग्नि [जिह्वाम्] अपनी जिह्वाको [ओपधीषु] ओषधियोंके अन्दर [वि भरिभ्रत्] इधर उधर प्रक्षिप्त करता है, और [रथ्य अत्य न] रथके घोडेकी तरह [वारान् दोधवीति] अपने केसरोको उद्धूत करता है।

(५)

आ यन्मे अभ्व वनद पनन्तोशिग्भ्यो नामिमीत वर्णम् ।
स चित्रेण चिकिते रसु भासा जुजुर्वां यो मुहुरा युवा भूत् ॥

[यत्] जव [मे] मेरे विचार [वनद] उसे आनन्द देते हुए [अभ्व पनन्त] उसकी शक्तिका स्तुतिगान करते है, तव वह [वर्णम् अमिमीत] रगका निर्माण कर देता है, [उशिग्भ्य न] मानो हमारी कामनाओके लिये। [स] वह [चिकिते] ज्ञानमें जागृत हो जाता है [चित्रेण भासा रसु] उन मनुष्योंके अन्दर जो कि उसके प्रकाशकी प्रचुर चित्र-विचित्रता-के द्वारा आनन्द प्राप्त कर रहे होते है। [जुजुर्वान् य] बूढा तथा जीर्ण वह [मुहु युवा आभूत्] बारम्बार युवा हो जाता है।

(६)

आ यो वना तातृषाणो न भाति वार्ण पथा रथ्येव स्वानीत् ।
कृष्णाध्वा तपू रण्वश्चिकेत द्यौरिव स्मयमानो नभोभि ॥

[य] जो वह अग्नि [तातृषाण न] तृषार्तकी तरह [वना आभाति] वनोपर अपना प्रकाश फैलाता है, [पथा वा न] अपने रास्तेपर जाते

हुए जलोकी तरह [स्वानीत्] गर्जना करता है, [रथ्य इव स्वानीत्] रथके घोडेकी तरह हिनहिनाता है। [कृष्णाध्वा] उसका मार्ग काला है, [तपु] उसकी उष्णता तपानेवाली है, [रण्व] वह आनन्दसे परिपूर्ण है और [चिकेत] ज्ञानमें जागृत है, वह [नभोभि स्मयमान द्यौ इव] तारकित प्रदेशोंके साथ मुस्कराते हुए पिता द्यौकी तरह है।

(७)

स यो व्यस्यादभि दक्षदुर्वीं पशुर्नैति स्वयुरगोपा ।
अग्निः शोचिष्मॉं अतसान्युष्णन् कृष्णव्यथिरस्वदयन्न भूम ॥

[य स व्यस्यात्] वह जो कि चल पडता है [उर्वीम् अभिदक्षद्] सम्पूर्ण विस्तृत पृथिवीपर दग्ध करते हुए चलनेकी अपनी यात्रापर, [पशु न एति] उस पशुकी तरह गति करता है जो कि [स्वयु] स्वेच्छाचारी है और [अगोपा] जिसका कोई रखवाला नही है, वह [शोचिष्मान्] जाज्वल्यमान प्रकाशवाला और [कृष्णव्यथि] कृष्ण व्यथावाला [अग्नि] अग्नि [अतसानि उष्णन्] सूखे तनोपर अपने तापसे आक्रमण करता है, [भूम अस्वदयन् न] मानो कि उसने वृहत्ताका स्वाद ले लिया हो।

(८)

नू ते पूर्वस्यावसो अधीतौ तृतीये विदथे मन्म शंसि।
अस्मे अग्ने सयद्वीर वृहन्तं क्षुमन्त वाज स्वपत्य रयिं दा ॥

[नू ते पूर्वस्य अवस अवीतौ] अव तेरी पूर्व रक्षाकी ओर हमारे मनके प्रतिनिवृत्त होनेपर [तृतीये विदथे] ज्ञानके तृतीय सत्रमें [मन्म शसि] हमारा विचार शसित हुआ है। [अग्ने] हे अग्नि ! [अस्मे] हमें [स्वपत्य रयिं दा] खजाना दे जो उसकी सन्तानो समेत हो, [वृहन्त क्षुमन्त सयद्वीर वाज दा] हमें वह वृहत् और प्रचुर ऐश्वर्य दे जिसमें वीर एकत्र हुए हुए हो।

(९)

त्वया यथा गृत्समदासो अग्ने गुहा वन्वन्त उपरॉं अभि ष्युः ।
सुवीरासो अभिमातिषाह स्मत्सूरिभ्यो गृणते तद्वयो धा ॥

[सूरिभ्य] प्रकाशमान ज्ञानियोंके लिये और [गृणते] उसके लिये जो तेरी स्तुति करता है [तद् वय धा] उस तरह वृद्धि तथा विस्तार का सस्थापक हो जा [यथा] जिससे कि [गृत्समदास] गृत्समद [सुवीरास] वीरोकी शक्तिसे सबल हुए हुए, और [अभिमातिषाह] शात्रवी शक्तियोका पराजय करते हुए [त्वया] तेरी शक्तिके द्वारा [उपरान् अभिष्यु] उच्चतर लोकोको जीत लेवे और [गुहा वन्वन्त] गुह्य आन्तरिक प्रदेशोका आनन्द ले सके।'

सूक्त ५

(१)

होताजनिष्ट चेतन पिता पितृभ्य ऊतये।
प्रयक्षञ्जेन्य वसु शकेम वाजिनो यमम् ॥

[चेतन होता अजनिष्ट] एक सचेतन **होता** हमारे प्रति उत्पन्न हुआ है, [पितृभ्य पिता अजनिष्ट] पिताओंके प्रति एक **पिता** उत्पन्न हुआ है [ऊतये] उनकी सुरक्षाके लिये। [प्रयक्षन्] यज्ञ के द्वारा हम [वसु शकेम] उस सम्पत्तिको प्राप्त करनेमें सफल हो जायें [जेन्यम्] जो कि विजताके लिये है,[२] और [वाजिन यमम्] तीव्रताके घोडेको नियन्त्रणमें रखनेके लिये।

(२)

आ यस्मिन्त्सप्त रश्मयस्तता यज्ञस्य नेतरि।
मनुष्वद्दैव्यमष्टम पोता विश्व तदिन्वति ॥

[यस्मिन् यज्ञस्य नेतरि] इस जिस यज्ञके नेतामें [सप्त रश्मय]

---

[१]अथवा, जीत सके।

[२]या, [जेन्य वसु] उस सम्पत्तिको जो कि जीतनेके लिये पडी है।

सात किरणे [आतता] आकर फैली हुई है, वहा [दैव्यम् अष्टमम्] एक दिव्य आठवीं वस्तु है [मनुष्वत्] जो अपने साथ मानवीयताको लिये हुए है। [पोता] पवित्रताका पुरोहित [तद् विश्वम्] उस सबको [इन्वति] अधिगत कर लेता है।[1]

(३)

दधन्वे वा यदीमनु वोचद् ब्रह्माणि वेरु तत्।
परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभवत् ॥

[यद्] जब कोई मनुष्य [ईम्] इस अग्निको [दधन्वे] दृढताके साथ स्थापित कर लेता है, तब वह [ब्रह्माणि वोचत्] ज्ञानके शब्दोको प्रतिध्वनित करने लगता है, [उ तत् वे] और उसको पा लेता है[2] क्योकि वह [विश्वानि काव्या परि-अभवत्] समस्त द्रष्टृ-ज्ञानोको आलिंगन करता है, [नेमि चक्रम् इव] जैसे नेमि पहियेको।

(४)

साकं हि शुचिना शुचि: प्रशास्ता क्रतुनाजनि।
विद्वाँ अस्य व्रता ध्रुवा वया इवानु रोहते ॥

[शुचि] पवित्र [प्रशास्ता] प्रशास्ता, प्रज्ञापनका पुरोहित [शुचिना क्रतुना साकम्] पवित्र संकल्पके साथ [अजनि] उत्पन्न हो गया है। [अस्य ध्रुवा व्रता विद्वान्] वह मनुष्य जो कि इसके अटल कर्म-नियमोको जानता है [वया इव] शाखाओकी तरह [अनु रोहते] एक एक करके उनपर चढ जाता है।

(५)

ता अस्य वर्णमायुवो नेष्टुः सचन्त धेनवः।
कुवित्तिसृभ्य आ वरं स्वसारो या इदं ययुः ॥

---

[1]या, उस सबके प्रति यात्रा करता है (पहुच जाता है)।

[2]या, जान लेता है।

[ता धेनव आयुव] वे दुर्बल गौए आती है और [अस्य नेष्टु वर्णं सचन्त] इस शोधनके पुरोहित, नेष्टा, के प्रकाश के रग[1]से ससक्त हो जाती है, [या स्वसार] जो कि वहिने [कुवित्] अनेक वार [तिसृभ्य आ] तीनसे ऊपर[2] [इद वरम् ययु] इस परमके पास पहुचती हैं।

(६)

यदी मातुरुप स्वसा घृत भरन्त्यस्थित।
तासामध्वर्युरागतौ यवो वृष्टीव मोदते ॥

[यदि मातु स्वसा] जव माता की वहिन [घृत भरन्ती] प्रकाश-की देनको लाती हुई [उप-अस्थित] उसके पास आती है, तव [तासाम् आगतौ] उसके आगमनपर [अध्वर्यु] यात्रा-यज्ञका पुरोहित [मोदते] प्रसन्न हो उठता है, [यव वृष्टी इव] जैसे जौका खेत वर्षामें।

(७)

स्व स्वाय धायसे कृणुतामृत्विगृत्विजम्।
स्तोमं यज्ञ चादर वनेमा ररिमा वयम् ॥

[स्व स्वाय धायसे] स्वय अपनी स्थिरताके लिये स्वय ही [ऋत्विग्] विधि-विधानका पुरोहित, ऋत्विक् [ऋत्विज कृणुताम्] ऋत्विक्को रचे, [स्तोम यज्ञ च वनेम] हम स्तोम और यज्ञका आनद लेवे [आदर ररिम वयम्] क्योंकि तभी उसकी पूर्णता है[3] जो कुछ हमने प्रदान किया है[4]।

---

[1]या नेष्टाके रग।

[2]चौथे लोक, तीनसे ऊपर 'तुरीय', जैसा कि ऋग्वेदमें कहा गया है, **तुरीय स्विद्** (१०–६७–१)।

[3]या, क्योंकि तभी इसकी पूर्णता है [ररिम वयम्] जिसके लिये हमने (मार्गपर) गति की है।

[4]या, हम स्तोम और यज्ञका [आदर वनेम] पूर्ण आनद लेवे, [ररिम वयम्] क्योंकि हमने दिया है।

(८)

यथा विद्वाँ अरं करद्विश्वेभ्यो यजतेभ्य.।
अयमग्ने त्वे अपि य यज्ञ चकृमा वयम् ॥

[यथा विद्वान्] ज्ञाताकी तरह वह [विश्वेभ्य यजतेभ्य] सब यज्ञ-के अधिपतियोंके लिये [अर करत्] यज्ञ-विधिको पूर्ण करे। [अयम् अग्ने] यह यज्ञ, हे अग्नि! [त्वे अपि] तुझपर है [य यज्ञ चकृम वयम्] जिस यज्ञको हमने किया है।

सूक्त ६

(१)

इमा मे अग्ने समिधमिमामुपसदं वने.।
इमा उ षु श्रुधी गिर॰ ॥

[अग्ने] हे अग्नि! [इमा मे समिध वने] मेरे द्वारा लाई गई इस समिधामें आनद ले, [इमा उपसद वने] मेरे यज्ञके इस सत्रमें आनद ले। [इमा गिर] मेरी इन वाणियोपर [सुश्रुधि] गभीरतापूर्वक कान दे।

(२)

अया ते अग्ने विधेमोर्जो नपादश्वमिष्टे।
एना सूक्तेन सुजात ॥

[अग्ने] हे अग्नि! [सुजात] जो तू पूर्ण जन्मको प्राप्त हुआ हुआ है, [ऊर्जोनपात्] बलका पुत्र है, [अश्वमिष्टे] घोड़ेका प्रेरक है, [अया] इस हविके द्वारा [ति विधेम] हम तेरी पूजा करे, [एना सूक्तेन] इस सम्यक्तया उच्चारित शब्दसे [ति विधेम्] हम तेरी पूजा करे।

(३)

त त्वा गीर्भिर्गिर्वणसं द्रविणस्युं द्रविणोद ।
सपर्येम सपर्यव ॥

[गिर्वणस त्वा] शब्दमें आनद लेनेवाले तुझ अग्निकी [गीर्भि] शब्दोंके द्वारा हम [सपर्येम] उपासना करे, [द्रविणोद] ओ खजानेके देनेवाले! [द्रविणस्यु सपर्येम] तुझ खजानेके अन्वेषककी हम उपासना करे। [सपर्यव] तेरी सेवाके इच्छुक हम [सपर्येम] तेरी सेवा करे।

(४)

स बोधि सूरिर्मघवा वसुपते वसुदावन्।
युयोध्यस्मद् द्वेषांसि ॥

[वसुपते] हे सम्पत्तिके अधिपति! [वसुदावन्] हे सम्पत्तिके दाता! [स बोधि] वह तू जाग जा, जो कि [सूरि] द्रष्टा है, [मघवा] खजानोका स्वामी है, [अस्मत्] हमसे [द्वेषांसि] उन वस्तुओको जो कि द्वेषिणी है [युयोधि] दूर कर दे।

(५)

स नो वृष्टिं दिवस्परि स नो वाजमनर्वाणम्।
स न सहस्रिणीरिष.॥

[स न] हमारे लिये हे अग्नि! [दिवस्परि वृष्टिम्] द्युलोककी वर्षाको, [स न] हमारे लिये हे अग्नि! [अनर्वाण वाजम्] अविचल[1] सम्पत्तिको, [स न] हमारे लिये हे अग्नि! [सहस्रिणी इष] सहस्रोमें परिणत हो जानेवाली प्रेरणाओको (दे)।

---

[1]या, समस्त क्षुद्रतासे मुक्त।

(६)

ईळानायावस्यवे यविष्ठ दूत नो गिरा।
यजिष्ठ होतरा गहि ॥

[दूत] हे दूत! [यविष्ठ] हे युवकतम शक्ति! तू [न गिरा] हमारे शब्दपर [ईडानाय] उसके लिये जो तेरी अभीप्सा कर रहा है और [अवस्यवे] जो तेरी रक्षाकी कामना कर रहा है, आ, [होत] हे आवाहनके पुरोहित! [यजिष्ठ] हे यज्ञके लिये सबलतम! [आगहि] तू आ।

(७)

अन्तर्ह्यग्न ईयसे विद्वान् जन्मोभया कवे।
दूतो जन्येव मित्र्यः ॥

[अग्ने] हे अग्नि! [कवे] हे द्रष्टा! [उभया जन्म विद्वान्] दोनो जन्मोका ज्ञान रखता हुआ[1] तू [अन्त ईयसे] अदर गति करता है, तू [मित्र्य जन्य दूत इव] मित्रजनोंके पाससे आनेवाले दूतकी तरह[2] है।

(८)

स विद्वाँ आ च पिप्रयो यक्षि चिकित्व आनुषक्।
आ चास्मिन्त्सत्सि बर्हिषि ॥

[चिकित्व] हे सचेतन अग्नि! [स विद्वान् आ] वह तू ज्ञानके सहित आ, [पिप्रय च] और हमें परिपूर्ण कर दे, [यक्षि आनुषक्] अविरत रूपसे यज्ञके कर्मको कर। [अस्मिन् बर्हिषि च आ सत्सि] और हमारी वेदिकी इस पवित्र कुशापर आसन ग्रहण कर।

---

[1]या, उसकी तरह जो दोनो जन्मोंके बीचका ज्ञान रखता है।

[2]या, मित्रभूत सार्वजनिक दूतकी तरह।

सूक्त ७

(१)

श्रेष्ठ यविष्ठ भारताग्ने द्युमन्तमा भर।
वसो पुरुस्पृह रयिम् ॥

[अग्ने] हे अग्नि! [यविष्ठ] हे युवातम शक्ति! [भारत] हे आहर्ताओंके अग्नि! [वसो] हे खजानेके राजा! [रयिम् आभर] हमें सपत्ति प्राप्त करा, जो कि [श्रेष्ठम्] सर्वश्रेष्ठ हो [द्युमन्तम्] सारीकी सारी प्रकाशमय हो [पुरुस्पृहम्] और हमारी अनेक स्पृहाओंसे सचित हो।

(२)

मा नो अरातिरीशत देवस्य मर्त्यस्य च।
पर्षि तस्या उत द्विष. ॥

[न अराति] वह शक्ति जो कि हमसे युद्ध करती है [देवस्य मर्त्यस्य च] देव और मर्त्यपर[1] [मा ईशत] प्रभुत्व न पा सके, [उत तस्या द्विष पर्षि] हमें उस शत्रु-शक्तिसे पार ले जा।

(३)

विश्वा उत त्वया वय धारा उदन्या इव।
अति गाहेमहि द्विष. ॥

[उत] और [त्वया] तेरे द्वारा [वय विश्वा द्विष अतिगाहेमहि] हम समस्त शत्रु-शक्तियोका अवगाहन करके उनके पार हो जायें [उदन्या धारा इव] जैसे बहते हुए पानीकी धाराओंके बीचसे।

---

[1]या, [न देवस्य मर्त्यस्य च अराति] वह शक्ति जो हमसे, देवसे तथा मर्त्यसे युद्ध करती है [न मा ईशत] हमें आक्रात न कर सके।

(४)

शुचि. पावक वन्द्योऽग्ने वृहद्वि रोचसे।
त्व घृतेभिराहुतः ॥

[पावक अग्ने] हे पवित्र करनेवाले अग्नि! [शुचि वन्द्य] तू पवित्र और वदनीय है, [घृतेभि आहुत॰] निर्मलताकी घृताहुतियोका भोजन देनेपर [त्व वृहद् विरोचसे] तेरे प्रकाशकी काति वडी विशाल होती है।

(५)

त्व नो असि भारताग्ने वशाभिरुक्षभि.।
अष्टापदीभिराहुत ॥

[भारत अग्ने] हे आहर्ताओंके अग्नि! [त्व] तू [न उक्षभि] हमारे वैलोद्वारा, [वशाभि] वछडियोंद्वारा और [अष्टापदीभि] आठ टागोवाली गौओंद्वारा[1] [आहुत] वुलाया गया है।[2]

(६)

द्रुन्न. सर्पिरासुति. प्रत्नो होता वरेण्य.।
सहसस्पुत्रो अद्भुत ॥

[द्रवन्न] यह अग्नि वृक्षका भक्षक है [सर्पिरासुति] जिसके लिये प्रकाशका सर्पि (वहता हुआ घी) उंडेला जाता है, [वरेण्य] यह वाछनीय है [प्रत्न॰] पुरातन है, [होना] आवाहनका पुरोहित है, [अद्भुत] अद्भुत है, [सहसस्पुत्र] शक्तिका पुत्र है।

---

[1]या, हमारे वैलोद्वारा तथा हमारी वन्ध्या और गर्भिणी गौओद्वारा। 'अष्टापदी' का शाब्दिक अथ है आठ पैरोवाली।

[2]या, तुझे भोजन दिया गया है।

सूक्त ८

(१)

वाजयन्निव नू रथान्योगाँ अग्नेरुप स्तुहि।
यशस्तमस्य मीळ्हुष ॥

[वाजयन् इव] मानो अग्निको भरपूर करनेके लिये' [नु अग्ने रथान् योगान् उपस्तुहि] अब अग्निके रथो और जुओका स्तुति-गान कर, [यशस्तमस्य मीळ्हुष] उस अग्निके जो कि यशस्वितम तथा वरसानेवाला है।

(२)

य सुनीथो ददाशुषेऽजुर्यो जरयन्नरिम्।
चारुप्रतीक आहुत ॥

[य] जो अग्नि [ददाशुषे] उस मनुष्यके लिये जिसने कि दान किया है [सुनीथ] अपने पूर्ण नेतृत्वको लानेवाला है, [अजुर्य] स्वय अजीर्य है और [अरिं जरयन्] शत्रुको क्षत-विक्षत करके जीर्ण कर देता है। [आहुत] हवियोका भोजन देनेपर [चारुप्रतीक] उसका मुख सुन्दर हो उठता है।

(३)

य उ श्रिया दमेष्वा दोषोषसि प्रशस्यते।
यस्य व्रत न मीयते ॥

[य उ] और जो [श्रिया] अपनी शोभा और सौंदर्यके साथ [दमेषु] हमारे घरोमें [दोषोषसि] रात्रि और उषामें [आ प्रशस्यते] प्रशसित होता है, [यस्य व्रत न मीयते] उसके कर्मोका नियम कभी उपहत नही होता।

'या, ऐश्वर्यके अभिलाषीकी तरह।

(४)

आ य॰ स्वर्ण भानुना चित्रो विभात्यर्चिषा।
अञ्जानो अजरैरभि ॥

[य अर्चिषा चित्र] जो अग्नि चित्र-विचित्र दीप्तियोंसे समृद्ध हुआ-हुआ [आ विभाति] चमकता है, [भानुना स्व न] जैसे कि अपनी जग-मगाती दीप्तिके साथ सूर्यका लोक', [अजरै] अपनी अजर ज्वालाओ-से [अभि अञ्जान] हमारे ऊपर एक अभिव्यजक प्रकाशको डालता हुआ [विभाति] विशालताके साथ चमकता है।

(५)

अत्रिमनु स्वराज्यमग्निमुक्थानि वावृधु॰।
विश्वा अधि श्रियो दधे ॥

[उक्थानि अग्नि वावृधु] हमारे शब्दोने अग्निको प्रवृद्ध किया है, [अत्रिम्] इस यात्रीको [स्वराज्यम् अनु वावृधु] स्वराज्यके मार्गमें प्रवृद्ध किया है, वह [विश्वा श्रिय अधिदधे] अपने अदर समम्त शोभा और सौंदर्यको धारण किये हुए है।

(६)

अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य देवानामूतिभिर्वयम्।
अरिष्यन्त॰ सचेमह्यभि ष्याम पृतन्यत ॥

[वयम्] हम [अग्ने सोमस्य इन्द्रस्य] अग्नि और सोम और इन्द्र-की तथा [देवानाम्] देवोकी [ऊतिभि सचेमहि] सुरक्षाओंमें समन्वित होवे, [अरिष्यन्त] किसी प्रकारकी क्षतिको न पाते हुए हम [अभिष्याम पृतन्यत] उनको परास्त कर दें जो कि हमारे विरुद्ध व्यूहरचना किये हुए हैं।

'या, सूर्य।

सूक्त ९

(१)

नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाँ असदत्सुदक्ष ।
अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठ सहस्रभर. शुचिजिह्वो अग्नि. ॥

[होता] आह्वानके पुरोहितने [होतृषदने न्यसदत्] होतृगृहमें अपना आसन ग्रहण कर लिया है, वह [त्वेष] प्रकाशसे जगमगा रहा है और [दीदिवान्] स्पष्ट दीप्तिवाला है, वह [विदान] ज्ञानसे परिपूर्ण है और [सुदक्ष] निर्णयमें पूर्ण है। [अदब्धव्रतप्रमति] उसके पास ऐसा प्रज्ञावान् मन है जिसके कर्म अजय्य है, और वह [वसिष्ठ] सबसे बढकर खजानोका धनी है [शुचिजिह्व अग्नि] पवित्रताकी जिह्वावाला वह अग्नि [सहस्रभर] हजारको लानेवाला है।

(२)

त्व दूतस्त्वमु न परस्पास्त्व वस्य आ वृषभ प्रणेता।
अग्ने तोकस्य नस्तने तनूनामप्रयुच्छन्दीद्यद्वोधि गोपा ॥

[त्व दूत] तू दूत है, [त्वम् उ न परस्पा] तू हमारा रक्षक है जो कि हमें पहले पार ले जाता है, [वृषभ] हे गौओंके बैल! [त्व वस्य आ प्रणेता] तू हमारा नेता है उस मार्गपर जो कि उच्चतर सम्पत्तियोंके लोकको ले जानेवाला है। [अग्ने] हे अग्नि! [न तोकस्य तनूना तने] हमारे पुत्रको रच देनेमें और शरीरोंके निर्माणमें[1] [गोपा] तू जो कि रक्षक है [दीधत्] अपने प्रकाशमें जागृत हो, [अप्रयुच्छन्] और अपने कर्मसे विमुख मत हो।

(३)

विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने विधेम स्तोमैरवरे सधस्थे।
यस्माद्योनेरुदारिथा यजे त प्र त्वे हवींषि जुहुरे समिद्धे ॥

---

[1]या, [न तनना तोकस्य तने] हमारे शरीरोंके पुत्रकी सन्तानमें।

[अग्ने] हे अग्नि ! [परमे जन्मन्] तेरे उच्च जन्ममें [ते विधेम] हम तेरी पूजा करे, [अवरे सधस्थे] तेरे निम्न अधिवेशनके लोकमें [स्तोमै विधेम] अपने स्तुतिगानोंसे तेरी पूजा करे [यस्माद् योने उदारिथ] तेरी उस निवासगुहाकी जिससे कि तू उत्पन्न हुआ है [यजे] मै यज्ञ द्वारा पूजा करता हू। [समिद्धे] तेरे प्रज्वलित और देदीप्यमान हो चुकनेपर [त्वे हवीषि प्र जुहुरे] तुझमें हविया डाली गयी है।

(४)

अग्ने यजस्व हविषा यजीयाञ्छ्रुष्टी देष्णमभि गृणीहि राधः।
त्व ह्यसि रयिपती रयीणां त्व शुक्रस्य वचसो मनोता ॥

[अग्ने] हे अग्नि ! [यजीयान्] यज्ञके लिये सशक्त हो जा, [हविषा यजस्व] मेरी हविसे पूजा कर, [श्रुष्टी] शीघ्रताके साथ [राध देष्णम् अभि] खजानेकी देनके प्रति [गृणीहि] मेरे विचारको वाणीयुक्त कर। [त्व हि रयीणा रयिपति असि] क्योकि तू धनोपर अधिकार रखनेवाला सपत्तिस्वामी है [त्व शुक्रस्य वचस मनोता] तू दीप्तिमान् शब्दका विचारक है।

(५)

उभय ते न क्षीयते वसव्य दिवेदिवे जायमानस्य दस्म।
कृधि क्षुमन्त जरितारमग्ने कृधि पतिं स्वपत्यस्य राय ॥

[दस्म] हे सशक्त देव ! [उभय ते वसव्यम्] दोनो प्रकारकी सपत्ति तेरी है [दिवे दिवे जायमानस्य] और क्योकि तू प्रतिदिन पैदा हो जाता है इसलिये वह [न क्षीयते] व्यर्थ या क्षीण नही हो सकती। [अग्ने] हे अग्नि ! [जरितारम्] अपने पूजकको [क्षुमन्तम् कृधि] सम्पत्तियोंसे परिपूर्ण कर दे, [स्वपत्यस्य राय पतिं कृधि] उसे खजानेका और सतानसे समृद्ध सपत्तिका स्वामी बना दे।

(६)

सैनानीकेन सुविदत्रो अस्मे यष्टा देवाँ आयजिष्ठ स्वस्ति।
अदब्धो गोपा उत न परस्पा अग्ने द्युमदुत रेवद्दिदीहि ॥

[अग्ने] हे अग्नि! [सैनानीकेन अस्मे दिदीहि] अपनी इस शक्ति[1]के साथ तू हमारे अन्दर चमक, जो तू [सुविदत्र] ज्ञानमें पूर्ण है, [यष्टा देवान्] देवोंका पूजक है और [आयजिष्ठ] यज्ञके लिये सशक्त है। [अदब्ध गोपा] हमारा अजय्य सरक्षक [उत न परस्पा] और परले पार ले जानेवाला हमारा रक्षक हो जा, [द्युमद् दिदीहि] अपने प्रकाश-के साथ हमारे अन्दर चमक, [रेवद् दिदीहि] अपने ऐश्वर्यके साथ हमारे अन्दर चमक।

सूक्त १०

(१)

जोहूत्रो अग्नि प्रथम पितेवेळस्पदे मनुषा यत्समिद्ध ।
श्रिय वसानो अमृतो विचेता मर्मृजेन्य श्रवस्य स वाजी ॥

[अग्नि प्रथम पिता इव] अग्नि हमारे लिये प्रथम पिताकी तरह है और [जोहूत्र] उसके प्रति हमारा आह्वान होना चाहिये, [यत्] जब कि वह [मनुषा] मनुष्यके द्वारा [इडस्पदे समिद्ध] उसकी अभीप्साकी वेदिपर प्रज्वलित किया गया है। [श्रिय वसान] शोभा और सौंदर्यको चोगेकी तरह धारण किये हुए है, [स वाजी] वह हमारा वेगवान् घोडा है [श्रवस्य] जो कि अन्तर्ज्ञानमे परिपूर्ण है [मर्मृजेन्य] और हमारे द्वारा परिसेव्य है, वह [अमृत विचेता] अमर है, विशाल ज्ञानवाला है।

---

[1]या, रूप

(२)

श्रूया अग्निश्चित्रभानुर्हव मे विश्वाभिर्गीर्भिरमृतो विचेता.।
श्यावा रथं वहतो रोहिता वोतारुषाह चक्रे विभृत्र ॥

[अग्नि चित्रभानु] अग्नि जो कि अपने प्रकाशोकी अत्यधिक चित्र-विचित्रतासे युक्त है, [अमृत विचेता] अमर, विशाल ज्ञानवाला है [विश्वाभि गीर्भि मे हव श्रूया] मेरी पुकारको उसके सब शब्दोंके साथ सुने। [श्यावा] दो पिंगलवर्णके घोडे [उत अरुषा रोहिता वा] या चमकमें दो लाल अथवा अरुण घोडे [रथ वहत] उसके रथको खीचते है [अह विभृत्र चक्रे] ओह[1] विशालतया धारण किया हुआ वह विरचित हो गया है।

(३)

उत्तानायामजनयन्त्सुषूतं भुवदग्नि· पुरुपेशासु गर्भं ।
शिरिणायां चिदक्तुना महोभिरपरीवृतो वसति प्रचेता· ॥

उन्होने उस अग्निको [उत्तानायाम् अजनयन्] एक उत्तान पडी हुई के अन्दर जन्म दिया है [सुषूतम्] जिसने कि बडी सुगमतासे उसे जना, [अग्नि पुरुपेशासु गर्भ भुवत्] वह अग्नि अनेक रूपोवाली माताओका शिशु बन गया। [प्रचेता] यह विचारक और ज्ञाता [महोभि] अपने प्रकाशोकी महत्ताके द्वारा [शिरिणाया चिद् अक्तुना] विनाशक रात्रितक-के अन्दर [अपरीवृत] अन्धकारसे अपरीवृत हुआ हुआ [वसति] निवास करता है[1]।

(४)

जिघर्म्यग्निं हविषा घृतेन प्रतिक्षियन्त भुवनानि विश्वा।
पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्त व्यचिष्ठमन्नै रभसं दृशानम् ॥

---

[1]या, चमकता है।

[अग्निं हविषा घृतेन जिघर्मि] मैं अग्निको अपने प्रकाशकी हविद्वारा अभिषिक्त करता हू, [विश्वा भुवनानि प्रति क्षियन्तम्] जहा कि वह सब लोकोंके सम्मुख होकर निवास करता है, [तिरश्चा वयसा पृथुम्] अपने दिगन्तसम विस्तारमें विशाल और [वृहन्तम्] वृहत् वह [अन्नै व्यचिष्ठम्] उन सबके द्वारा जो कि उसके भोजन (अन्न) है अधिकतम खुला तथा अभिव्यक्त है। [रभस दृशानम्] और अपनी शक्तिके वेगसे युक्त[1] दिखायी देता है।

(५)

आ विश्वत प्रत्यञ्च जिघर्म्यरक्षसा मनसा तज्जुषेत।
मर्यश्री स्पृहयद्वर्णो अग्निर्नाभिमृशे तन्वा जर्भुराण ॥

[विश्वत प्रत्यञ्चम् आजिघर्मि] मै उसे अभिषिक्त करता हू जब कि वह सब तरफ़ सब वस्तुओंके सम्मुख होकर गति करता है, वह [अरक्षसा मनसा] ऐसे मनसे जो कि ऐश्वर्योंको रोक नही रखता[2] [तत् जुषेत] 'उस'का आनन्द लेवे। [अग्नि तन्वा न अभिमृशे] उस अग्निके शरीरको कोई भी स्पर्श नही कर सकता, जब कि [स्पृहद्वर्ण] प्रकाशके रगोकी कामनासे युक्त[3] [मर्यश्री] प्रबल तथा आभापूर्ण कातिवाला वह [जर्भुराण] क्रीडा करता है।

(६)

ज्ञेया भाग सहसानो वरेण त्वादूतासो मनुवद्वदेम।
अनूनमग्नि जुह्वा वचस्या मधुपृच धनसा जोहवीमि ॥

[ज्ञेया भागम्] तू अपने भागका ज्ञान प्राप्त कर [सहसान वरेण] अपनी सर्वोच्च ज्वालासे अपनी शक्तिको व्यक्त करता हुआ, [त्वा-

[1]या, अपने आनन्दके वेगसे युक्त।
[2]या, ऐसे मनसे जो कि क्षति पहुचानेकी इच्छा नही रखता।
[3]या, अपने कामनाको जागृत करनेवाले रग सहित।

दूतास] तू जिनका दूत है ऐसे हम [मनुवद्] विचारक मनुष्यकी तरह [वदेम] बोले। [धनसा] मै खजानेको जीत लेनेवाला हू [वचस्या] और अपनी वाणीकी शक्ति द्वारा और [जुह्वा] अपनी हविकी ज्वाला द्वारा [अग्नि जोहवीमि] अग्निका आह्वान करता हू [अनूनम्] उस अग्निका जिसमें कि कोई अपूर्णता नही है और [मधुपृचम्] जो हमें मधुरताका सस्पर्श देनेवाला है[1]।

---

[1]या, जो हमें मधुरता के रससे परिपूर्ण कर देनेवाला है।

भरद्वाज ऋषि के आग्नेय सूक्त

मंडल ६

सूक्त १

(१)

त्व ह्यग्ने प्रथमो मनोताऽस्या धियो अभवो दस्म होता।
त्व सीं वृषन्नकृणोर्दुष्टरीतु सहो विश्वस्मै सहसे सहध्यै ॥

[दस्म अग्ने] हे शक्तिशालिन् अग्ने! [त्व हि] तू ही [अस्या धिय प्रथम मनोता] इस विचारका प्रथम विचारक तथा [होता] 'होता'—आह्वान का पुरोहित [अभव] है। [वृषन्] हे पुरुष! [त्व सी] तूने अपने चारो तरफ सर्वत्र [दुष्टरीतु सह] अजय्य अलघ्य बल [अकृणोत्] रच लिया है [विश्वस्मै सहसे सहध्यै] अन्य सब वलोका अभिभव करनेके लिये।

(२)

अधा होता न्यसीदो यजीयानिळस्पद इषयन्नीड्य‌ सन्।
त त्वा नर‌ प्रथम देवयन्तो महो राये चितयन्तो अनु ग्मन् ॥

[अधा] और अब [यजीयान्] यज्ञके लिये सशक्त तूने [इळस्पदे न्यसीद] अभीप्साकी वेदिपर आसन ग्रहण किया है [ईड्य होता इषयन् सन्] अभीप्सनीय, आह्वानके दिव्य पुरोहित और प्रेरणाके देनेवाले होते हुए तूने (आसन ग्रहण किया है)। [नर देवयन्त] वे मनुष्य जिन्होने देवत्वोका निर्माण किया है [त त्वा प्रथम चितयन्त] उस तुझसे मुख्य और प्रथम देवके रूपमें सचेतन हुए हैं [महो राये अनुग्मन्] और महान् निधिके लिये उन्होंने तेरा अनुसरण किया है।

(३)

वृतेव यन्त बहुभिर्वसव्यैस्त्वे रयि जागृवांसो अनु ग्मन्।
रुशन्तमग्नि दर्शत बृहन्त वपावन्त विश्वहा दीदिवासम् ॥

[त्वे जागृवास·] तुझमें जागृत हुए हुए उन्होने [रयिं अनुग्मन्] निधिका अनुगमन किया [वृता इव] मानो उसके मार्गसे [बहुभि वसव्यै यन्त] जो बहुतसे ऐश्वर्योंके साथ चलता है और [अग्नि] उस तुझ अग्निका जो कि [बृहन्त रुशन्त दर्शत वपावन्त] महान् चमकीले दर्शनवाला और मूर्त्तिमान् है [विश्वहा दीदिवासम्] जो सदा सर्वदा अपना प्रकाश फैला रहा है।

(४)

पद देवस्य नमसा व्यन्तः श्रवस्यव· श्रव आपन्नमृक्तम्।
नामानि चिद् दधिरे यज्ञियानि भद्राया ते रणयन्त सदृष्टौ ॥

[दिवस्य पद नमसा व्यन्त] देवके स्थानकी ओर समर्पण द्वारा गति करनेवाले [श्रवस्यव·] अन्त प्रेरित ज्ञानको चाहनेवाले उन्होने [अमृक्त श्रव आपन्] अबाधित अन्त प्रेरणाको प्राप्त किया, उन्होने [यज्ञियानि नामानि चित् दधिरे] यज्ञिय नामोंको भी धारण किया और [ति भद्राया सदृष्टौ] तेरे शुभ दर्शनमें [रणयन्त] रमण किया, आनन्द प्राप्त किया।

(५)

त्वां वर्धन्ति क्षितय· पृथिव्या त्वां राय उभयासो जनानाम्।
त्व त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम् ॥

[क्षितय त्वा पृथिव्या वर्धन्ति] प्रजाए तुझे पृथिवीपर बढाती हैं और [जनाना उभयास राय] मनुष्योंके दोनो प्रकारके धन [त्वा] तुझको बढाते है। [तरणे] हे युद्धमें पार तरानेवाले अग्ने! तू [त्राता चेत्य भू] वह प्रतिपालक है जिसको हमें अवश्य जानना चाहिये और [मानुषाणा] मानवोका [सद इत्] सदा ही [माता पिता भू] माता और पिता है।

(६)

सपर्येण्यः स प्रियो विक्ष्वग्निर्होता मन्द्रो नि षसादा यजीयान्।
त त्वा वयं दम आ दीदिवासमुप ज्ञुबाधो नमसा सदेम ॥

[स विक्षु अग्नि प्रिय सपर्येण्य] वह मनुष्योमें स्थित अग्नि प्यारा है और सेवनीय है [मन्द्र होता] वह आनदमग्न होता—आह्वानका पुरोहित [यजीयान्] यज्ञके लिये सशक्त [नि ससाद] आसीन हो गया है, उसने अपना आसन ग्रहण कर लिया है। [ज्ञुवाध] अपने जानु बाधकर, प्रणत होकर [वय] हम [दमे आदीदिवास त त्वा] घरमें प्रदीप्त होते हुए उस तुझको [नमसा] समर्पणके नमन द्वारा [उप सदेम] पहुचे, प्राप्त होवे।

(७)

त त्वा वय सुध्यो नव्यमग्ने सुम्नायव ईमहे देवयन्तः।
त्व विशो अनयो दीद्यानो दिवो अग्ने बृहता रोचनेन॥

[अग्ने] हे अग्ने! [सुध्य सुम्नायव देवयन्त वय] ठीक विचार करनेवाले, सुख चाहनेवाले, देवत्वोका निर्माण करनेवाले हम [त नव्य त्वा] उस स्तवनीय तुझको [ईमहे] चाहते है। [अग्ने] हे अग्ने! [दीद्यान त्व] प्रकाशसे जगमगाता हुआ तू [दिव बृहता रोचनेन] द्युलोकके विस्तृत प्रकाशमान जगत्मेंसे होकर [विश अनय] मनुष्योको ले जाता है।

(८)

विशा कविं विश्पतिं शश्वतीनां नितोशनं वृषभं चर्षणीनाम्।
प्रेतीषणिमिषयन्त पावक राजन्तमग्निं यजत रयीणाम्॥

[कविं] द्रष्टाको [शश्वतीना विशा विश्पतिं] शाश्वत प्रजाओंके प्रजानाथको [नितोशन] ताडना करनेवालेको [चर्षणीना वृषभ] जो देखनेवाले है उनके वृषभको [प्रेतीषणिं] यात्राके अततक परिचालकको [इषयन्त] हमें प्रेरणा करनेवालेको [पावक] पवित्रताकारक ज्वालाको [यजत] यज्ञकी शक्ति-रूप [रयीणा राजन्त अग्नि] निधियोंके राजपाल अग्निको हम नमस्कार करते हैं।

(९)

सो अग्न ईजे शशमे च मर्तो यस्त आनट् समिधा हव्यदातिम्।
य आहुतिं परि वेदा नमोभिर्विश्वेत् स वामा दधते त्वोत॰॥

[अग्ने] हे अग्ने! [स मर्त्त] उस मनुष्यने [ईजे] अपना यज्ञ कर लिया [शशमे च] और अपना परिश्रम सफल कर लिया है [य] जिसने [ति] तेरे लिये [समिधा] समिधाके साथ [हव्यदातिं आनट्] हविका प्रदान निष्पन्न किया है [य नमोभि आहुतिं परि वेद] और जिसने अपने समर्पणके नमस्कारो द्वारा आहुतिके मर्मको अच्छी तरह समझ लिया है, [स त्वा ऊत] वह तुझसे रक्षित होता हुआ [विश्वा इत् वामा दधते] सभी वाछनीय वस्तुओको अपनेमें धारण करता है।

(१०)

अस्मा उ ते महि महे विधेम नमोभिरग्ने समिधोत हव्यै।
वेदी सूनो सहसो गीर्भिरुक्थैरा ते भद्राया सुमतौ यतेम॥

[अग्ने] हे अग्ने! [सहस सूनो] हे शक्तिके पुत्र! [अस्मै महे ते] इस महान् तुझको हम [महि उ] महान् ही भेंट चढावे, [नमोभि समिधा उत हव्यैं] नमस्कारोंसे, समिधासे और हवियोंसे [विधेम] तेरी पूजा करे, [विदी गीर्भि उक्थै] वेदिमें अपनी वाणियो और वचनोंसे तेरी पूजा करे, क्योंकि [ति भद्राया सुमतौ आ यतेम] तेरी कल्याण-कारिणी यथार्थ विचारणामें हम कार्य करना, यत्न करना चाहेंगे, हे अग्ने।

(११)

आ यस्ततन्थ रोदसी वि भासा श्रवोभिश्च श्रवस्यस्तरुत्र.।
बृहद्भिर्वाजै॰ स्थविरेभिरस्मे रेवद्भिरग्ने वितर वि भाहि॥

[य श्रवस्य तरुत्र] ओ तू जो कि अन्त प्रेरणासे पूर्ण है और बाधाओंसे तरानेवाला है, [रोदसी भासा श्रवोभि च आ ततन्थ] जिसने द्यौ और पृथिवीको अपने प्रकाश और अपने अत प्रेरित ज्ञानोंसे विस्तृत किया है, वह तू [बृहद्भि स्थविरेभि, रेवद्भि वाजै] अपने वृहत्, ठोस और समृद्ध सचयोंके साथ [अस्मे] हमारे अदर [वितर वि भाहि] और अधिक विशाल रूपमें प्रदीप्त हो, [अग्ने] हे अग्ने!

(१२)

नृवद्वसो सदमिद्धेह्यस्मे भूरि तोकाय तनयाय पश्व ।
पूर्वीरिषो बृहतीरारेअघा अस्मे भद्रा सौश्रवसानि सन्तु ॥

[वसो] हे **ऐश्वर्योंकि राजा**! [सदमित् अस्मे नृवत् धहि] सदैव हमारे अदर देवोंसे युक्त जो है उसे धारण कराओ, [तोकाय तनयाय] उत्पन्न हुए पुत्रके लिये [भूरि पश्व] बहुत-से गोयूथ धारण कराओ। [अस्मे भद्रा सौश्रवसानि सन्तु] हमारे अदर सत्य दिव्य श्रवणकी शुभ वस्तुए होवे और [बृहती आरेअघा पूर्वी इष] बहुतसी विशाल प्रेरणाए हो जिनसे कि पाप दूर ही रहता है।

(१३)

पुरूण्यग्ने पुरुधा त्वाया वसूनि राजन्वसुता ते अश्याम्।
पुरूणि हि त्वे पुरुवार सन्त्यग्ने वसु विधते राजनि त्वे ॥

[राजन् अग्ने] हे राजन्! हे अग्ने! [त्वाया वसुता] तुझद्वारा और तेरी वसुता—ऐश्वर्याधिपतिता—द्वारा मै [ति पुरूणि वसूनि] तेरे बहुतसे ऐश्वर्योंका [पुरुधा] बहुत प्रकारसे [अश्याम्] उपभोग करू, क्योकि [पुरुवार अग्ने] हे बहुतसे वरोवाले अग्ने! [त्वे राजनि विधते] तुझ राजाकी पूजा करनेवालेके लिये [त्वे पुरूणि हि वसु सन्ति] तेरे अदर बहुतसे ही ऐश्वर्य हैं।

सूक्त २

(१)

त्व हि क्षैतवद्यशोऽग्ने मित्रो न पत्यसे।
त्व विचर्षणे श्रवो वसो पुष्टि न पुष्यसि॥

[अग्ने] हे अग्ने! [त्व हि मित्र न] तू मित्रकी तरह [यश क्षैतवत्] यशकी तरफ जहा कि हमारा घर है [पत्यसे] जाता है। [विचर्षणे वसो] हे विशाल दृष्टिवाले निधिपति! [त्व श्रव पुष्टि न पुष्यसि] तू हमारी अन्त प्रेरणाको जैसे कि वृद्धिको पुष्ट करता है।

(२)

त्वा हि ष्मा चर्षणयो यज्ञेभिर्गीर्भिरीळते।
त्वा वाजी यात्यवृको रजस्तूर्विश्वचर्षणिः॥

[चर्षणय] देखनेवाले मनुष्य [त्वा हि] तेरे ही प्रति [यज्ञेभि गीर्भि] यज्ञोंसे और वाणियोंसे [ईळते] अभीप्सा करते है। [त्वा] तेरे पास [विश्वचर्षणि रजस्तू अवृक वाजी] सर्वद्रष्टा, अतरिक्षको पार करनेवाला और जिसे कोई भेडिया मार नही सकता ऐसा घोडा [याति] आता है।

(३)

सजोषस्त्वा दिवो नरो यज्ञस्य केतुमिन्धते।
यद्ध स्य मानुषो जन सुम्नायुर्जुह्वे अध्वरे॥

[दिव नर] द्युलोकके मनुष्य [सजोष] एकमात्र हर्षसे युक्त होते हुए [यज्ञस्य केतु त्वा] यज्ञके अन्तर्दृष्टिके चक्षु-रूप तुझको [इन्धते] प्रदीप्त करते हैं [यत् ह] जब कि [स्यः मानुष जन] यह मानव जन, [सुम्नायु] यह सुखका इच्छुक [अध्वरे जुह्वे] दिव्य यात्राके कर्ममें अपनी आहुति डालता है।

(४)

ऋधद्यस्ते सुदानवे धिया मर्तः शशमते।
ऊती ष बृहतो दिवो द्विषो अंहो न तरति॥

[य मर्त्त] जो मनुष्य [सुदानवे ते] तुझ महान् प्रदाताके लिये [धिया] विचारद्वारा [शशमते] कार्यसिद्धि करता है वह [ऋधत्] ऐश्वर्योंमें वृद्धिको प्राप्त होता है, [स बृहत दिव ऊती] वह **विशाल** द्युलोककी रक्षामें हो जाता है और [द्विष अह न तरति] विरोधी शक्तियो तथा उनकी बुराईको तर जाता है।

(५)

समिधा यस्त आहुतिं निशितिं मर्त्यो नशत्।
वयावन्तं स पुष्यति क्षयमग्ने शतायुषम्॥

[अग्ने] हे अग्ने! [य मर्त्त] जो मानव [समिधा] समिधाके द्वारा [ति आहुतिं निशितिं नशत्] तेरे आहुतिके मार्गको और तेरी तीव्रताओकी तीक्ष्णताको पहुचता है [स वयावन्त शतायुष क्षय] वह अपने शाखायुक्त और शतायुवाले घरको [पुष्यति] वृद्धिगत करता है।

(६)

त्वेषस्ते धूम ऋण्वति दिवि षञ्छुक्र आततः।
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे॥

[त्वेष ते धूमः] प्रदीप्त हुए तेरा धुआं [ऋण्वति] गति करता है और [दिवि आतत सन् शुक्र] द्युलोकमें वह विस्तृत हुआ हुआ चमकीला—श्वेत है। [पावक] हे पवित्रताकारक अग्ने! [त्व कृपा रोचसे सूर न हि द्युता] तू ज्वालाके साथ चमकता है जैसे कि सूर्य प्रकाशके साथ।

(७)

अधा हि विक्ष्वीड्योऽसि प्रियो नो अतिथिः।
रण्वः पुरीव जूर्यः सूनुर्न त्रययाय्यः॥

[अधा हि विक्षु असि] और अब यहा तू मनुष्योमें है [ईड्य] अभीप्सनीय [न प्रिय अतिथि] हमारा प्यारा अतिथि, क्योकि तू [पुरि रण्य जूर्य इव] नगरीमें एक रमणीय और पूजनीयकी तरह है [सूनु न] मानो हमारा पुत्र है [त्रययाय्य] तीनो लोकोमें घूमनेवाला है।

(८)

क्रत्वा हि द्रोणे अज्यसेऽग्ने वाजी न कृत्व्यः।
परिज्मेव स्वधा गयोऽत्यो न ह्वार्यः शिशुः॥

[अग्ने] हे अग्ने! [क्रत्वा हि द्रोणे अज्यसे] तू सकल्पके द्वारा हमारे द्वारोवाले घरमें चलता है [कृत्व्य वाजी] जैसे कि हमारे कार्य-के लिये सधा हुआ कोई घोडा, [स्वधा परिज्मा इव गय] तू अपने स्वभावसे एक दूरतक विस्तृत भवनकी तरह है और [अत्य न ह्वार्य] वेगवान् घोडेकी तरह है जो कि कुटिल गतिसे दौडता है [शिशु] और एक छोटा-सा बच्चा है।

(९)

त्व त्या चिदच्युताऽग्ने पशुर्न यवसे।
धामा ह यत्ते अजर वना वृश्चन्ति शिक्वसः॥

[अग्ने] हे अग्ने! [त्व पशु न यवसे] तू अपनी चरागाहमें पशुकी तरह है और [त्या अच्युता चित्] जो च्युत नही हुई है ऐसी वस्तुओको भी (खा जाता है), [यत् ते शिक्वस ह धामा] जिस तेरे प्रदीप्त हुएके तेज [वना वृश्चन्ति] जगलोको काट डालते है, [अजर] हे जरारहित ज्वाला!

(१०)

वेषि ह्यध्वरीयतामग्ने होता दमे विशाम् ।
समृधो विश्पते कृणु जुषस्व हव्यमङ्गिरः ॥

[अग्ने] हे अग्ने ! (होता) आवाहनका पुरोहित तू [अध्वरीयता विशा दमे] दिव्य मार्गके कर्मोंको करनेवाले मनुष्योके गृहमें [हि वेषि] अवश्य आता है। [विश्पते] हे मनुष्योंके स्वामी ! [समृध कृणु] हमें निधिसे पूर्ण बना [अंगिर] हे अंगिर, अंगारमय ऋषि ! [हव्य जुषस्व] हमारी हविमें आनन्दित हो।

(११)

अच्छा नो मित्रमहो देव देवानग्ने वोच सुमतिं रोदस्यो ।
वीहि स्वस्ति सुक्षितिं दिवो नॄन्द्विषो अंहांसि दुरिता तरेम
ता तरेम तवावसा तरेम ॥

[अग्ने] हे अग्ने ! [मित्रमह] हे मित्र प्रकाशवाले ! [देव] हे देव ! [देवान् अच्छ] देवोके प्रति अभिमुख तू [न रोदस्यो सुमतिं वोच] हमारे लिये द्यावापृथिवीके सत्य विचारको बोले, [स्वस्ति सुक्षितिं दिव नॄन् वीहि] स्वस्ति, उत्तम निवास और द्युलोकके मनुष्यो-की ओर चल। [द्विष अंहांसि दुरिता तरेम] हम शत्रुओ, पापो और इधर-उधरके स्खलनोंके पार हो जावे [ता तरेम] इनसे पार हो जावे [तव अवसा तरेम] तेरे संरक्षणके द्वारा इनके पार हो जावे।

सूक्त ३

(१)

अग्ने स क्षेषदृतपा ऋतेजा उरु ज्योतिर्नशते देवयुष्टे ।
यं त्वं मित्रेण वरुण. सजोषा देव पासि त्यजसा मर्तमंहः ॥

[स देवयु] वह देवत्व चाहनेवाला मनुष्य [क्षेपत्] तेरे साथ निवास करेगा [अग्ने] हे अग्ने! [ऋतपा ऋतेजा] सत्यका रक्षक और सत्यमें उत्पन्न हुआ वह [ति उरु ज्योति नशते] तेरे विस्तृत प्रकाशको प्राप्त करता है [य मर्त्तं] जिस मनुष्यकी कि [त्व] तू [दिव] हे देव! [वरुण मित्रेण सजोषा.] उसमें वरुण होकर मित्रके साथ समान आनद-को लेता हुआ [अह त्यजसा पासि] उसमेंसे पापके परित्यजनद्वारा रक्षा करता है।

(२)

ईजे यज्ञेभि. शशमे शमीभिर्ऋधद्वारायाग्नये ददाश।
एवा चन त यशसामजुष्टिर्नांहो मर्तं नशते न प्रदृप्ति.॥

[यज्ञेभि ईजे] उसने यज्ञोंसे यजन किया है [शमीभि शशमे] कर्मों-द्वारा अपने परिश्रमको सफल कर लिया है, क्योकि उसने [ऋधद्वाराय अग्नये ददाश] जिसके वर समृद्ध होते जाते है ऐसे अग्निके लिये प्रदान किया है। [एवा चन त मर्त्तं] और इसी तरह उस मनुष्यको [यशसा अजुष्टि न नशते] यशस्वी देवोकी पराङ्मुखता नही प्राप्त होती [न अह, न प्रदृप्ति] और न पाप, न विरोधिओका दर्प उसे प्राप्त होता है।

(३)

सूरो न यस्य दृशतिररेपा भीमा यदेति शुचतस्त आ धी.।
हेषस्वत. शुरुधो नायमक्तोः कुत्रा चिद्रण्वो वसतिर्वनेजा.॥

[सूरो न, यस्य दृशति· अरेपा·] सूर्यकी तरह, जिस तेरी दृष्टि निर्दोष है [शुचत· हेषस्वत यत् ते वी भीमा आ एति] प्रदीप्त हुए-हुए और शब्द करते हुए जिस तेरा विचार भयकर रूपसे गति करता है [शुरुध न] जैसे कि युद्ध-शक्तिया, [अय] वह यह अग्नि [वनेजा] वनमें उत्पन्न हुआ है और [अक्तो कुत्रचित् रण्य वसति] इसका कही रात्रिमें आनदमय निवास है।

(४)

तिग्मं चिदेम महि वर्पो अस्य भसदश्वो न यमसान आसा।
विजेहमानः परशुर्न जिह्वां द्रविर्न द्रावयति दारु धक्षत्॥

[अस्य एम चित् तिग्म] इस अग्निकी गति तीक्ष्ण है और [वर्प महि] इसका आकार विशाल है—यह [अश्व न आसा भसत् यमसान] एक घोडेकी तरह है जो कि अपने मुखसे खाता है और जोरसे चबाता है। [परशु न जिह्वा विजेहमान] कुल्हाडेकी तरह अपनी जिह्वाको यह इधर-उधर डालता है, [द्रवि न] जैसे कि धातुद्रावक वैसे यह [दारु धक्षत् द्रावयति] लकडीको दग्ध करता हुआ उसे पिघालता है।

(५)

स इदस्तेव प्रति धादसिष्यञ्छिशीत तेजोऽयसो न धाराम्।
चित्रध्रजतिररतिर्यो अक्तोर्वेर्न द्रुषद्वा रघुपत्मजंहा॥

[स इत् अस्ता इव असिष्यन् प्रतिधात्] वह ही अग्नि प्रक्षेप्ताकी तरह है जो अपने बाणको फेकनेके लिये उसका सधान करता है, [तेज शिशीत अयस धारा न] वह अपने तेजको—अपनी प्रकाशकी शक्तियोको—तीक्ष्ण करता है जैसे लोहेकी धारको। [य अक्तो अरति] जो अग्नि रात्रिका पथिक है—[चित्रध्रजति] चित्र, सवेग गतिवाला पथिक, [रघुपत्मजहा] वह हलके, फुर्तीसे चलनेवाली जघाओवाला है और [वि न द्रुषद्वा] एक पक्षीकी तरह है जो वृक्षपर बैठता है।

(६)

स ईं रेभो न प्रति वस्त उस्राः शोचिषा रारपीति मित्रमहाः।
नक्तं य ईमरुषो यो दिवा नॄनमर्त्यो अरुषो यो दिवा नॄन्॥

[स ईं रेभ न] वह यह अग्नि स्तोता, गायककी तरह है, [मित्र-महा] जो मित्र प्रकाश है, [उस्रा प्रति वस्ते] किरणोंसे अपने-आपको आच्छादित करता है, [शोचिषा रारपीति] अपनी ज्वालाद्वारा सकीर्त्तन

करता है। [अरुषा य ई नक्त य दिवा नून्] जो यह प्रकाशमान देव रात्रिमें और दिनमें देवताओंकी ओर (यात्रा करता है), [अरुष अमर्त्य] प्रकाशमान अमरदेव [य दिवा नून्] जो दिन भर देवताओंकी ओर यात्रा करता है।

(७)

दिवो न यस्य विधतो नवीनोद्वृषा रुक्ष ओषधीषु नूनोत्।
घृणा न यो ध्रजसा पत्मना यन्ना रोदसी वसुना दं सुपत्नी॥

[विधत दिव न यस्य नवीनोत्] विधान करनेवाले द्युलोकके शब्दकी तरह जिसका उद्घोष है[1], [रुक्ष वृषा ओषधीषु नूनोत्] वह प्रकाशमान बैल है जो ओषधियोंके बीच गरजता है। [या] जो अग्नि [घृणा न ध्रजसा पत्मना यन्] अपनी दीप्ति, अपने वेग और अपने दौडनेके साथ गति करता हुआ [रोदसी वसुना आ द] उन द्यौ और पृथिवीको ऐश्वर्यके द्वारा भर देता है [सुपत्नी] जो कि सुखी पत्नियोंके समान है।

(८)

धायोभिर्वा यो युज्येभिरर्कैर्विद्युन्न दविद्योत्स्वेभि. शुष्मै ।
शर्धो वा यो मरुतां ततक्ष ऋभुर्न त्वेषो रभसानो अद्यौत्॥

[य] जो अग्नि [विद्युत् न] बिजलीकी तरह [स्वेभि शुष्मै] अपने निजी बलोंके साथ, [धायोभि वा युज्येभि वा अर्कै] एव अपने धारक और सहायक प्रकाशोंके साथ [दविद्योत्] चमकता है, स्फुरित होता है। [य वा ऋभु न] और जो दिव्य शिल्पी—ऋभु—की तरह [मरुता शर्ध ततक्ष] मरुतो—प्राणदेवो—के सैन्यबलका निर्माण करता है, [रभसान त्वेष अद्यौत्] और अपने आनन्दपूर्ण वेगमें जाज्व-

---

[1]अथवा [विधत यस्य दिव: न नवीनोत्] यज्ञ-पूजन करते हुए जिस अग्निका उद्घोष द्युलोकके शब्दकी तरह है।

ल्यमान होता हुआ चमकता है।

सूक्त ४

(१)

यथा होतर्मनुषो देवताता यज्ञेभि सूनो सहसो यजासि।
एवा नो अद्य समना समानानुशन्नग्न उशतो यक्षि देवान् ।।

[सहस सूनो, होत] हे शक्तिके पुत्र! हे आवाहनके पुरोहित! [यथा मनुष देवताता] जैसे मनुष्यके देवत्व-निर्माणमें [यज्ञेभि यजासि] तू सदा उसके यज्ञोंसे यजन करता है [एव अद्य] उसी तरह आज [समानान् उशत देवान्] समान शक्तिवाले और चाहनेवाले देवोका [अग्ने समना उशन्] हे अग्ने! समान शक्तिवाला और चाहनेवाला तू [न यक्षि] हमारे लिये यजन कर।

(२)

स नो विभावा चक्षणिर्न वस्तोरग्निर्वन्दारु वेद्यश्चनो धात्।
विश्वायुर्यो अमृतो मर्त्येषूषर्भुद् भूदतिथिर्जातवेदा ।।

[वस्तो चक्षणि न विभावा] दिनके द्रष्टाकी तरह जो विस्तृत प्रकाशवाला है [वेद्य अग्नि] जिसे कि हमें अवश्य जानना चाहिये ऐसा अग्नि [न वदारु चन धात्] हमारे अदर वन्दनीय आनदको स्थापित करता है। [य विश्वायु] जो अग्नि विश्व-जीवनवाला है, [मर्त्येषु अमृत] मरनेवाले मनुष्योमें अमृत है, न मरनेवाला है, [उष-र्भुत्] उषामें जागनेवाला, [अतिथि भूत्] और हमारा वह अतिथि है [जातवेदा] जो कि सब जन्मोको जो भी है जाननेवाला है।

(३)

द्यावो न यस्य पनयन्त्यभ्व भासांसि वस्ते सूर्यो न शुक्रः।
वि य इनोत्यजरः पावकोऽश्नस्य चिच्छिश्नथत्पूर्व्याणि ।।

[द्याव न यस्य अभ्व पनयन्ति] मानो द्युलोक भी जिसके महान् बलकी स्तुति करते है [भासासि वस्ते] जो प्रकाशोसे—प्रकाश-रूपी वस्त्रोसे—आच्छादित है [सूर्य न शुक्र] सूर्यकी तरह तेजस्वी है, [य अजर पावक वि इनोति] जो जरारहित पवित्रताकारक अग्नि विस्तृत-तया गति करता है और [अघ्नस्य पूर्व्याणि चित् शिश्नथत्] खा जानेवाले[1]की पुरातन वस्तुओको भी काट डालता है।

(४)

वद्मा हि सूनो अस्यद्मसद्वा चक्रे अग्निर्जनुषाज्मान्नम्।
स त्वं न ऊर्जसन ऊर्जं धा राजेव जेरवृके क्षेष्यन्त ॥

[सूनो] हे पुत्र! [वद्मा असि हि] तू बोलनेवाला है, [अद्मसद् वा] तेरा अन्न तेरा स्थान है, [अग्नि जनुषा अज्म अन्न चक्रे] अग्निने जन्म-से ही अपने गतिक्षेत्रको अन्न बनाया है। [ऊर्जसने] हे बल प्रदान करनेवाले! [स त्व न ऊर्ज धा] वह तू हमारे अदर बलको धारण करा। [राजा इव जे] तू राजाकी तरह जय प्राप्त करता है [अन्त क्षेषि अवृके] और तेरा निवास अदर है जहा कोई वृक—विदारण करनेवाला—नही आ सकता।

(५)

नितिक्ति यो वारणमन्नमत्ति वायुर्न राष्ट्र्यत्येत्यक्तून्।
तुर्याम यस्त आदिशामरातीरत्यो न ह्रुत पतत परिह्रुत् ॥

[य वारण नितिक्ति] जो अग्नि अपनी प्रतिरक्षाकी तलवारको तीक्ष्ण करता है, [अन्न अत्ति] अपने अन्नको खाता है, [वायु न राष्ट्री] जो वायुकी तरह राष्ट्रोका स्वामी है [अक्तून् अत्येति] और रात्रियोका अतिक्रमण करता है। [तुर्याम] हे अग्नि! हम शत्रुओके पार हो जाय, [य ते आदिशा अराती] जो तू तेरे आदेशोका विरोध

---

[1] भोक्ताकी।

[होत पुर्वणीक] हे आवाहनके पुरोहित! अपने बहुविध ज्वाला[1]-सैन्योंसे युक्त! [दोषा वस्तो] रात्रिमें और दिनमें [यज्ञियास त्वे वसूनि आ ईरिरे] यज्ञके अधिपति देव तुझमें अपने ऐश्वर्योंको डालते हैं, [यस्मिन् पावके] जिस तुझ पवित्रताकारक अग्निमें वे [क्षामा इव विश्वा भुवनानि] जैसे कि पृथ्वीमें सब भुवन स्थापित हैं वैसे ही [सौभगानि सदधिरे] सब सौभाग्योंको संस्थापित करते हैं।

(३)

त्व विक्षु प्रदिव सीद आसु क्रत्वा रथीरभवो वार्याणाम्।
अत इनोषि विधते चिकित्वो व्यानुषग्जातवेदो वसूनि॥

[त्व प्रदिव] तू दिनोंमें प्राचीन है और [आसु विक्षु सीद] इन प्रजाओंमें स्थित हुआ है और [क्रत्वा वार्याणा रथी अभव] संकल्पके द्वारा वाछनीय वस्तुओंके लिये तू उनका रथी बनता है। [अत चिकित्व जातवेद] इसलिये हे सचेतन! हे सब जन्मोंको जाननेवाले! [विधते वसूनि आनुषक् वि इनोषि] तू अपने भक्तके लिये ऐश्वर्योंके प्रति सतत रूपसे जाता है।

(४)

यो न सनुत्यो अभिदासदग्ने यो अन्तरो मित्रमहो वनुष्यात्।
तमजरेभिर्वृषभिस्तव स्वैस्तपा तपिष्ठ तपसा तपस्वान्॥

[अग्ने मित्रमह] हे अग्ने! हे मित्र ज्योति! [तपिष्ठ] हे अधिकतम तपानेवाली शक्ति! [य सनुत्य न अभि दासत्] जो शत्रु छिपा हुआ है और हमें विनष्ट करना चाहता है और [य अन्तर वनुष्यात्] जो शत्रु हमारे अन्दर है और हमपर विजय पाना चाहता है उसपर [तपस्वान् तपसा] तेजस्वी होता हुआ तू अपने तेजसे, अपनी ज्वालाके संतापके साथ पहुंच और [तव स्वै अजरेभि वृषभि त तप] तेरी अपनी निज अजर और नर अग्नियोंसे तू उसे दग्ध कर दे।

---

[1]ज्वाला-रूपो।

(५)

यस्ते यज्ञेन समिधा य उक्थैरर्केभि· सूनो सहसो ददाशत्।
स मर्त्येष्वमृत प्रचेता राया द्युम्नेन श्रवसा वि भाति॥

[सहस सूनो] हे शक्तिके पुत्र! [य ते यज्ञेन समिवा ददाशत्] जो मनुष्य तुझे यज्ञसे और समिधासे देता है, [य उक्थेभि अर्केभि] जो तुझे अपने उक्त शब्दोद्वारा और प्रकाशके गीतोद्वारा देता है [स] वह [अमृत] हे अमर अग्ने! [मर्त्येषु प्रचेता] मनुष्योमें प्रकृष्ट ज्ञानसे युक्त मन होता है और [राया द्युम्नेन श्रवसा विभाति] धनसे, प्रकाशसे और अत.प्रेरणाके साथ चमकता है।

(६)

स तत्कृधीषितस्तूयमग्ने स्पृधो बाधस्व सहसा सहस्वान्।
यच्छस्यसे द्युभिरक्तो वचोभिस्तज्जुषस्व जरितुर्घोषि मन्म॥

[अग्ने स इषित तत् तूय कृधि] हे अग्ने! प्रेषित हुआ हुआ (वह) तू (जिसके लिये प्रेषित है) उसको शीघ्र कर, [सहस्वान् सहसा स्पृध बाधस्व] शक्तिमान् तू अपनी शक्तिके द्वारा हमारा सामना करने-वालोका पूर्ण प्रतिरोध कर। [यत् द्युभि अक्त] जब अपने प्रकाशो-द्वारा प्रकट हुआ-हुआ तू, [वचोभि शस्यसे] हमारे वचनोद्वारा निरूपित किया जाता है [तत् जरितु घोषि मन्म जुषस्व] तब तू स्तोताके उस घोषयुक्त विचारमें आनदित हो।

(७)

अश्याम त काममग्ने तवोती अश्याम रयिं रयिव· सुवीरम्।
अश्याम वाजमभि वाजयन्तोऽश्याम द्युम्नमजराजरं ते॥

[अग्ने] हे अग्ने! [तव ऊती त काम अश्याम] तेरे सरक्षणमें हम उस ऊची इच्छाको प्राप्त करे, [रयिव सुवीर रयिं अश्याम] हे निधियोंके अधिपति! हम उसके वीरो-सहित उस निधिको प्राप्त करे,

[अभि वाजयन्त वाज अश्याम] तुझे भरपूर करते हुए तेरी प्रचुरताको प्राप्त करे, [अजर ते अजर द्युम्न अश्याम] हे अजर! तेरे अजर प्रकाशको प्राप्त करे।

सूक्त ६

(१)

प्र नव्यसा सहस· सूनुमच्छा यज्ञेन गातुमव इच्छमान·।
वृश्चद्वनं कृष्णयाम रुशन्त वीती होतार दिव्य जिगाति॥

[गातु अव इच्छमान·] जब मनुष्य मार्गको और रक्षणको चाहता है तब वह [नव्यसा यज्ञेन सहस सूनु अच्छ प्र] नवीनतर यज्ञके द्वारा शक्तिके पुत्र (अग्नि) के प्रति अभिमुख होता है। [वीती दिव्य होतार जिगाति] अपनी यात्रामें वह उस दिव्य होता—आवाहनके पुरोहितको—पहुचता है जो कि [रुशन्त] प्रकाशसे चमक रहा है [वृश्चद्द्वन कृष्णयाम] किंतु वनको काटते हुए, उसका मार्ग काला है।

(२)

स श्वितानस्तन्यतू रोचनस्था अजरेभिर्नानदद्भिर्यविष्ठ·।
य· पावक पुरुतम पुरूणि पृथून्यग्निरनुयाति भर्वन्॥

[स श्वितान तन्यतु] वह श्वेत होता है और गरजनेवाला है, [रोचनस्था] एक प्रकाशमय लोकमें ठहरनेवाला है, [यविष्ठ अजरेभि नानदद्भि] वह युवकतम अपनी अजर और शब्द करनेवाली अग्निओंसे युक्त है। [य अग्नि पावक पुरुतम] जो अग्नि पवित्रता करनेवाला है और अपने बाहुल्योंसे पूर्ण है, [भर्वन् पुरूणि पृथूनि अनुयाति] वह जब खाता है तब भी उन वस्तुओंके पीछे जाता है जो अनेकविध हैं और विस्तृत हैं।

(३)

वि ते विष्वग्वातजूतासो अग्ने भामास शुचे शुचयश्चरन्ति।
तुविम्रक्षासो दिव्या नवग्वा वना वनन्ति धृषता रुजन्तः॥

[अग्ने] हे अग्ने! [ति भामास वातजूतास विश्वक् विचरन्ति] तेरे प्रकाश वायुसे प्रेरित हुए-हुए सब तरफ विचरते हैं, [शुचे शुचय] हे पवित्र अग्ने! तेरे वे प्रकाश भी तेरी तरह ही पवित्र है। [तुविम्रक्षाम धृषता रुजन्त वना वनन्ति] वे वहुतसी वस्तुओको छूते हुए, अपने सवेगसे वहुतसी वस्तुओको तोडते-फोडते हुए वनोका आनद लेते हैं, [दिव्या] वे दिव्य प्रकाश है, [नवग्वा] नवविध किरणोवाले —नवग्वा—ऋषि हैं।

(४)

ये ते शुक्रासः शुचयः शुचिष्म क्षां वपन्ति विषितासो अश्वा।
अध भ्रमस्त उर्विया वि भाति यातयमानो अधि सानु पृश्नेः॥

[शुचिष्म] हे ज्वलत पवित्रताओवाले! [ये ते अश्वा] ये तेरे घोडे [शुक्रास शुचय] जो कि उज्ज्वलवर्ण और पवित्र है [विषितास क्षा वपन्ति] दौडनेको मुक्त किये हुए पृथिवीको मुण्डित कर देते हैं। [अध ते भ्रम उर्विया] तव तेरा भ्रमण सुविस्तृत होता है, और [विभाति] इसका प्रकाश दूर-दूरतक चमकता है [पृश्ने सानु अधि यातयमान] जब कि यह उन्हे चित्र-विचित्र माताकी ऊचाइयोकी ओर ऊपर ले जा रहा होता है।

(५)

अध जिह्वा पापतीति प्र वृष्णो गोषुयुधो नाशनिः सृजाना।
शूरस्येव प्रसितिः क्षातिरग्नेर्दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानि॥

[अध वृष्ण जिह्वा प्रपापतीति] तव वृषा—वैल—की जीभ निरतर लपलपाती है [गोषुयुध सृजाना अशनि न] जैसे कि प्रकाशकी गौओ-

के लिये लडनेवाले देवमे छोडा हुआ विद्युत्-वज्र। [अग्ने क्षाति शूरस्य प्रसिति इव] अग्नि का किया हुआ विनाश शूरके आक्रमणके समान होता है, [भीम दुर्वर्त्तु] वह भयकर है और अप्रतिरोध्य है, [वनानि दयते] वह बनोको काट डालता है।

(६)

आ भानुना पार्थिवानि ज्रयांसि महस्तोदस्य धृषता ततन्थ।
स बाधस्वाप भया सहोभि' स्पृधो वनुष्यन्वनुषो नि जूर्व ॥

[पार्थिवानि ज्रयासि] तू पार्थिव गति-क्षेत्रोको [भानुना, मह तोदस्य धृषता] अपने प्रकाशसे और अपने महान् चाबुककी मारसे [आततथ] विस्तृत करता है। [स सहोभि भया अपबाधस्व] वह तू अपने शक्तिशाली बलोद्वारा सब भयोको दूर कर दे, [वनुष वनुष्यन्] हमें जीतना चाहनेवालोको जीतता हुआ तू [स्पृध निजूर्व] हमारे प्रतिद्वद्वी शत्रुओको विनष्ट कर दे।

(७)

स चित्र चित्र चितयन्तमस्मे चित्रक्षत्र चित्रतम वयोधाम्।
चन्द्र रयिं पुरुवीरं बृहन्त चन्द्र चन्द्राभिर्गृणते युवस्व ॥

[चित्र चित्रक्षत्र] हे समृद्ध दीप्तिवाले! नानाविध रूपमें प्रकाशित बलोवाले! [अस्मे चित्र चित्रतम चितयन्त वयोधा] हमें चित्र-विचित्र, अत्यधिक विविधतया समृद्ध, ज्ञानके प्रति जगाने (चेताने) वाले और हमारी विस्तृत वृद्धिको स्थापित करनेवाले ऐश्वर्यको दे। [चन्द्र] हे आनदपूर्ण देव! [चन्द्राभि गृणते] आनदपूर्ण स्तुतियोद्वारा तेरा कीर्त्तन करनेवालेके लिये तू [बृहन्त चन्द्र पुरुवीर रयिं युवस्व] महान्, आनदपूर्ण और बहुतसे वीर रक्षकोंसे युक्त ऐश्वर्यको सस्थापित कर, दृढ कर।

सूक्त ७

(१)

मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्।
कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः॥

[दिव मूर्धानं, पृथिव्या अरतिं] द्युलोकके शिर और पृथिवीके पथिक [वैश्वानर अग्नि] विश्वशक्तिभूत अग्निको [ऋते आजातम्] जो कि सत्यमें हमारे लिये उत्पन्न हुआ था, [जनाना अतिथिं] मनुष्यो के अतिथि [कविं सम्राज] द्रष्टा और सम्राट्को [देवा आजनयन्त] देवोने जन्म दिया, [आसन् पात्रं] और मुखमें उसे हविका पात्र बनाया।

(२)

नाभिं यज्ञाना सदनं रयीणा महामाहावमभि सं नवन्त।
वैश्वानरं रथ्यमध्वराणा यज्ञस्य केतुं जनयन्त देवाः॥

[यज्ञाना नाभिं, रयीणा सदनं] यज्ञोकी नाभि और ऐश्वर्योंके एक स्थान [महा आहाव अभि] युद्धमें पुकारके एक महान् विषय (वैश्वानर अग्नि) के पास [स नवन्त] वे सब मिलकरके गये। [अध्वराणा रथ्य] दिव्य पथके कार्योंके रथी और [यज्ञस्य केतुं] यज्ञके अतर्ज्ञान-रूप चक्षु [वैश्वानर] उस विश्वव्यापी देवको [देवा अजनयन्त] देवोने जन्म दिया।

(३)

त्वद्विप्रो जायते वाज्यग्ने त्वद्वीरासो अभिमातिषाहः।
वैश्वानर त्वमस्मासु धेहि वसूनि राजन्त्स्पृहयाय्याणि॥

[अग्ने] हे अग्ने! [त्वत् विप्र, वाजी, जायते] तुझसे विप्र (द्रष्टा) उत्पन्न होता है और घोड़ा, [त्वत् अभिमातिषाह वीरास] तुझसे ही वे वीर उत्पन्न होते हैं जो शत्रुओका अभिभव कर सकनेवाले

होते है। [राजन् वैश्वानर] हे राजन्, हे विश्वजनीन शक्ति! [त्व अस्मासु स्पृहयाय्याणि वसूनि घेहि] तू हमारे अदर स्पृहणीय ऐश्वर्योको स्थापित कर।

(४)

त्वां विश्वे अमृत जायमान शिशु न देवा अभि स नवन्ते।
तव क्रतुभिरमृतत्वमायन्वैश्वानर यत्पित्रोरदीदे.॥

[अमृत] हे अमर देव! [जायमान त्वा विश्वे देवा अभि सनवन्ते] उत्पन्न होते हुए तेरे पास सब देव इकट्ठे होकर आते हैं [शिशु न] जैसे नये पैदा हुए बच्चेके पास। [वैश्वानर] हे विश्व-शक्ति! [तव क्रतुभि अमृतत्व आयन्] तेरे सकल्पके कर्मोंद्वारा वे अमृतत्वको प्राप्त हुए [यत् पित्रो अदीदे] जब कि तू पिता और माता द्वारा प्रदीप्त हो उठा।

(५)

वैश्वानर तव तानि व्रतानि महान्यग्ने नकिरा दधर्ष।
यज्जायमान' पित्रोरुपस्थेऽविन्दः केतु वयुनेष्वह्नाम्॥

[अग्ने वैश्वानर] हे अग्ने! हे विश्वव्यापी देव! [तव तानि महानि व्रतानि] तेरे महान् क्रियाओंके उन नियमोको [नकि आदधर्ष] कोई भी भग नही कर सकता, [यत्] क्योंकि [पित्रो उपस्थे जायमान] पिता और माताकी गोदमें अपने जन्मकालमें ही तूने [वयुनेषु अह्ना केतु अविन्द] अभिव्यक्त वस्तुओंके अदर[1] दिनों के अन्तर्ज्ञानमय प्रकाशको प्राप्त कर लिया था।

(६)

वैश्वानरस्य विमितानि चक्षसा सानूनि दिवो अमृतस्य केतुना।
तस्येदु विश्वा भुवनाधि मूर्धनि वया इव रुरुहु' सप्त विस्रुह.॥

---

[1]या सब प्रकारके ज्ञानोंके अदर।

[दिव सानूनि वैश्वानरस्य चक्षसा विमितानि] द्युलोककी ऊचा-इया इस विश्व-शक्ति की आखके द्वारा मापी जाकर वनी हैं, [अमृतस्य केतुना] इस अमरदेवके अन्तर्ज्ञानद्वारा वनी है। [तस्य इत् उ मूर्धनि अधि विश्वा भुवनानि] उस ही के शिरपर सव विश्व है, [सप्त विस्रुह वया इव रुरुहु] सात दूर-दूरतक वहनेवाली नदिया उसमेंसे शाखाओकी तरह चढती हैं।

(७)

वि यो रजास्यमिमीत सुक्रतुर्वैश्वानरो वि दिवो रोचना कविः।
परि यो विश्वा भुवनानि पप्रथेऽदब्धो गोपा अमृतस्य रक्षिता॥

[य सुक्रतु वैश्वानर] जिस सकल्पशाली विश्वव्यापक वलने [रजासि वि अमिमीत] अतरिक्षके लोकोको मापकर वनाया है, [कवि· दिव रोचना वि] द्रष्टा होकर जिसने द्युलोकके प्रकाशमान लोकोको वनाया, [य विश्वा भुवनानि परि पप्रथे] जिसने इन सव लोकोको हमारे चारो तरफ विस्तृत किया है [अमृतस्य रक्षिता, अदब्ध गोपा] वह अमृतका सरक्षक है, इसका अधर्षणीय पालक है।

सूक्त ८

(१)

पृक्षस्य वृष्णो अरुषस्य नू सह प्र नु वोच विदथा जातवेदस।
वैश्वानराय मतिर्नव्यसी शुचि सोम इव पवते चारुरग्नये॥

[नु पृक्षस्य अरुषस्य वृष्ण· सह प्रवोच] अव मैंने व्यापक और चमकनेवाले वृषा (पुरुष) के वलके विषयमें उच्च स्वरसे कहा है, [जात-वेदस विदथा नु] सव उत्पन्न वस्तुओंके जाननेवाले देवके ज्ञानाविष्कारो-के विषयमें कहा है। [नव्यसी शुचि चारु मति] एक नवीन, शुद्ध

और सुन्दर विचार [अग्नये वैश्वानराय सोम इव पवते] इस अग्निके लिये, विश्वव्यापक देवके लिये सोमरसकी तरह वह रहा है।

(२)

स जायमान· परमे व्योमनि व्रतान्यग्निर्व्रतपा अरक्षत्।
व्यन्तरिक्षममिमीत सुक्रतुर्वैश्वानरो महिना नाकमस्पृशत्॥

[अग्नि व्रतपा] अग्नि सब क्रियाओंके नियमोका सरक्षक है, [स परमे व्योमनि जायमान व्रतानि अरक्षत्] उसने परम आकाशमें अपनी उत्पत्तिके समयसे ही अपनी क्रिया और गतिके नियमोको सुरक्षित रखा है। [सुक्रतु वैश्वानर अन्तरिक्ष वि अमिमीत] उस सकल्पशाली विश्वव्यापक बलने अन्तरिक्षको मापकर बनाया, [महिना नाक अस्पृशत्] और अपनी महिमासे द्युलोकको स्पर्श किया है।

(३)

व्यस्तभ्नाद्रोदसी मित्रो अद्भुतोऽन्तर्वावदकृणोज्ज्योतिषा तम।
वि चर्मणीव धिषणे अवर्तयद्वैश्वानरो विश्वमधत्त वृष्ण्यम्॥

[अद्भुत मित्र रोदसी वि अस्तभ्नात्] उस अद्भुत मित्रने पृथ्वी और द्यौको थामा और [ज्योतिषा तम अन्तर्वावत् अकृणोत्] अपनी ज्योतिसे अधकारको अन्तर्हित, लुप्त कर दिया है। [धिषणे चर्मणी इव वि अवर्त्तयत्] उसने दो मनोको दो खालोकी तरह खोलकर फैला दिया है, [वैश्वानर विश्व वृष्ण्यम् अधत्त] इन विश्वव्यापकने सपूर्ण पौरुष बलको धारण किया है।

(४)

अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत विशो राजानमुप तस्थुर्ऋग्मियम्।
आ दूतो अग्निमभरद्विवस्वतो वैश्वानर मातरिश्वा परावत·॥

[महिषा अपा उपस्थे अगृभ्णत] महान देवोंने इसे जलोकी गोदी-

में ग्रहण किया और [विश राजान ऋग्मिय उपतस्थु] प्रजाएं इस राजाके सामने जो कि प्रकाशपूर्ण शब्दसे युक्त है उपस्थित हुईं। [विवस्वत दूत मातरिश्वा] प्रकाशमान सूर्यका दूत मातरिश्वा—मातामें फैलनेवाला—वायु [वैश्वानर अग्नि परावत आ भरत्] इस विश्वव्यापी देव अग्निको परात्पर धामसे लाया।

(५)

युगेयुगे विदथ्य गृणद्भ्योऽग्ने रयिं यशस धेहि नव्यसीम्।
पव्येव राजन्नघशसमजर नीचा नि वृश्च वनिन न तेजसा॥

[अग्ने] हे अग्ने! [युगे युगे नव्यसी विदथ्य गृणद्भ्य] उन लोगोंके लिये जो कि युगयुगमें नवीनतर वाणीको, ज्ञान के आविष्करणके रूपमें, बोलते हैं [यशस रयिं धेहि] तू यशोयुक्त ऐश्वर्यको धारण करा, परतु [अघशस] जो पापकी वाणी बोलता है उसे [अजर राजन्] हे अविनाशी[1] राजा! [तेजसा] अपने तेजसे, अपनी प्रकाशकी शक्तिसे [वृश्च] तू इस तरह काट डाल, दो टुकडे कर दे और [नीचा नि] नीचे डाल दे [पव्या इव] जैसे कि वज्रसे [वनिन न] कोई वृक्ष काट डाला जाता है।

(६)

अस्माकमग्ने मघवत्सु धारयाऽनामि क्षत्रमजर सुवीर्यम्।
वय जयेम शतिन सहस्रिण वैश्वानर वाजमग्ने तवोतिभि॥

[अग्ने] हे अग्ने! [अस्माक मघवत्सु] हमारे निधिपतियोंमें [अजर सुवीर्य अनामि क्षत्र] अविनाश्य[2] वीर-शक्ति तथा अनम्य युद्धबल [धारय] धारण करा। [वैश्वानर अग्ने] हे विश्वव्यापी अग्ने! [तव ऊतिभि] तेरी सुरक्षाओंके द्वारा [वय शतिन सहस्रिण वाज जयेम] हम सैकडोकी और सहस्रोकी प्रचुरताको जीतें।

---

[1]अथवा अजर।

[2]अथवा 'न जीर्ण होनेवाली'।

(७)

अदब्धेभिस्तव गोपाभिरिष्टेऽस्माक पाहि त्रिषधस्थ सूरीन् ।
रक्षा च नो ददुषा शर्धो अग्ने वैश्वानर प्र च तारी. स्तवान. ।।

[इष्टे] हे हमारे प्रेरक[1] ! [त्रिषधस्थ] हे तीनो अधिवेशनोंके करनेवाले ! [अस्माक सूरीन् तव अदब्धेभि गोपाभि पाहि] तू हमारे प्रकाशयुक्त द्रष्टाओ (ऋषियो) का अपनी अधर्षणीय रक्षिका अग्निओ-के द्वारा परित्राण कर। [अग्ने] हे अग्ने ! [न ददुषा शर्ध रक्ष च] जिन्होने दिया है उन हमारे लोगोके सैन्यकी तू रक्षा भी कर, [वैश्वा-नर स्तवान प्रतारी च] हे विश्वव्यापक देव ! हमारे स्तोत्रको सुनता हुआ तू आगे बढ़नेके लिये मुक्त भी कर।

सूक्त ९

(१)

अहश्च कृष्णमहरर्जुन च वि वर्तेते रजसी वेद्याभि· ।
वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमासि ।।

[कृष्ण अह च अर्जुन अह च] एक काला दिन है और एक चन्देला श्वेत दिन है, [रजसी विवर्त्तेते वेद्याभि] दो लोक अपने विभिन्न मार्गोंमें घूम रहे है उन शक्तियोंके साथ जिन्हे कि हमें अवश्य जानना चाहिये। [अग्नि वैश्वानर] अग्निने, उस विश्वव्यापी देवने [राजा न जायमान] राजाकी तरह उत्पन्न हुए [ज्योतिषा तमासि अवा-तिरत्] प्रकाशके द्वारा अधकारोंको नीचे धकेल दिया है।

---

[1] 'अथवा हे यज्ञ करनेवाले !'

(२)

नाहं तन्तुं न वि जानाम्योतु न य वयन्ति समरेऽतमाना ।
कस्य स्वित् पुत्र इह वक्त्वानि परो वदात्यवरेण पित्रा ॥

[अह तन्तु न विजानामि] मै तानेको नही जानता [न ओतु] न वानेको जानता हू, [न य अतमाना समरे वयन्ति] न ही उस थानको जानता हू जिसे कि वे इधरसे उधर घूम-घूम कर अपने गति और शुभके क्षेत्रमें बुनते है। [इह वक्त्वानि] यहा कहने योग्य रहस्य है और [कस्य स्वित् पुत्र पर अवरेण पित्रा वदाति] किसीका वह पुत्र जो कि स्वय सबसे पर है अपनेसे अवरभूत अपने पिताके द्वारा उन्हे बोलता है।

(३)

स इत्तन्तु स वि जानात्योतु स वक्त्वान्यृतुया वदाति ।
य ईं चिकेतदमृतस्य गोपा अवश्चरन्परो अन्येन पश्यन् ॥

[स इत् तन्तु विजानाति] वह ही तानेको जानता है [स ओतु] वह बानेको जानता है, [स वक्त्वानि ऋतुया वदाति] वह कहने योग्य बातोको उनके ठीक समयपर कहता रहता है। [अमृतस्य गोपा य ई चिकेतत्] अमृतका रक्षक वह है जो इन बातोंके ज्ञानके प्रति जागता है, [अव चरन्, पर, अन्येन पश्यन्] यहा नीचे चलता हुआ वह सबसे पर है जो कि अन्यके द्वारा देखता है।

(४)

अय होता प्रथम पश्यतेममिद ज्योतिरमृत मर्त्येषु ।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा वर्धमान ॥

[अय प्रथम होता] यह पुरातन होता, आवाहनका पुरोहित, है, [इम पश्यत] इमे देखो। [इद मर्त्येषु अमृत ज्योति] यह मरनेवालोमें अमर ज्योति है। [अय स जज्ञे तन्वा वर्धमान] यह है वह जो कि उत्पन्न हुआ है और शरीरके साथ बढता है, [अमर्त्य ध्रुव आनिषत्त] जो अमर है और स्थिर होकर सदाके लिये बैठा हुआ है।

(५)

ध्रुव ज्योतिर्निहित दृशये क मनो जविष्ठ पतयत्स्वन्त ।
विश्वे देवाः समनस सकेता एक क्रतुमभि वि यन्ति साधु ॥

[ध्रुव ज्योति दृशये निहित क] एक नित्य ज्योति है जो देखनेके लिये अन्दर रखी गयी है, [जविष्ठ मन पतयत्सु अन्त] एक अत्यन्त वेगवान् मन है जो कि मार्गपर चलनेवाले मनुष्योंके अन्दर रखा है। [विश्वे देवा समनस सकेता] सबके सब देव समान मनवाले और समान अन्त-र्ज्ञानवाले होकर [एक क्रतु अभि साधु वियन्ति] एक सकल्पके प्रति ठीक प्रकारसे अपने विविध मार्गोंसे जाते हैं।

(६)

वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वीद ज्योतिर्हृदय आहित यत् ।
वि मे मनश्चरति दूरआधी किं स्विद्वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये ॥

[मि कर्णा वि पतयत] मेरे कान सुननेके लिये विस्तृत क्षेत्रमें पहुचते हैं [चक्षु वि] मेरी आखे देखनेको विस्तृततया जाती है, [इद ज्योति यत् हृदये आहित वि] और यह ज्योति जो कि हृदयमें रखी गयी है विस्तृत गति करती है। [मि मन वि चरति] मेरा मन विस्तृत क्षेत्रमें फिरता है [दूरे आधी] जो मन दूर-दूर तक ध्यान (विचार) करने-वाला है, [कि स्वित् वक्ष्यामि] कुछ वस्तु है जिसे कि मै बोलूगा [कि उ नु मनिष्ये] कुछ है जिसका कि अब मैं विचार करूगा।

(७)

विश्वे देवा अनमस्यन्भियानास्त्वामग्ने तमसि तस्थिवासम् ।
वैश्वानरोऽवतूतये नोऽमर्त्योऽवतूतये न ॥

[विश्वे देवा त्वा तमसि तस्थिवास भियाना] सब देवता तुझसे जब कि तू अन्धकारमें स्थित था भयभीत थे और [अनमस्यन्] तेरे

व्यापक देव हमारी पालना करे जिससे कि हम सुरक्षित रहें, [अमर्त्य न अवतु ऊतये] वह अमर हमारी पालना करे जिससे कि हम सुरक्षित रहे।

सूक्त १०

(१)

पुरो वो मन्द्रं दिव्य सुवृक्ति प्रयति यज्ञे अग्निमध्वरे दधिध्वम्।
पुर उक्थेभि॰ स हि नो विभावा स्वध्वरा करति जातवेदा ॥

[अध्वरे यज्ञे प्रयति] जब कि दिव्य मार्ग—कर्म-रूप यज्ञ अपने मार्ग-पर चल रहा है [व] तब तुम [मन्द्र दिव्य अग्नि] आनन्दपूर्ण दिव्य अग्निको [सुवृक्ति] जो कि अच्छी मोचन[1] करनेवाली ज्वाला है [पुर॰ दधिध्वम्] अपने सामने रखो, [पुर उक्थेभि] अपने शब्दोद्वारा उसे सामने रखो, [स हि] क्योकि वह [जातवेदा, विभावा] सब उत्पन्न वस्तुओको जाननेवाला है, विस्तृत रूपसे प्रकाशित होनेवाला है, [न स्वध्वरा करति] और वह हमारे लिये यज्ञके आगे-आगे बढनेको सुगम बना देगा।

(२)

तमु द्युम पुर्वणीक होतरग्ने अग्निभिर्मनुष इधान॰।
स्तोमं यमस्मै ममतेव शूष घृत न शुचि मतय पवन्ते ॥

[अग्ने] हे अग्ने! [होत द्युम पुर्वणीक] हे आवाहनके पुरोहित! अपनी दीप्तिसे युक्त! बहुतसे ज्वाला-सैन्यके पुरोहित! [मनुष अग्नि-

---

[1]'सुवृक्ति' शब्द ग्रीक रहस्यवादियोंके 'कथर्सिस' के अनुरूप है—अर्थात् चेतनामेंसे सब सकटकारक और अपवित्र द्रव्यकी सफाई, मोचन या परिवर्जन। यह 'पावक अग्नि' है—पवित्रताकारक अग्नि है जो कि हममें यह मोचन या पवित्रीकरण, 'सुवृक्ति' को लाता है।

भि इधान] मनुष्यकी अग्निओंसे समिद्ध हुआ-हुआ तू [त उ स्तोम य] उस स्तोत्रको सुन जिसे कि [मतय घृत न शुचि पवन्ते] हमारे विचार घृत'की तरह शुद्ध पवित्र रूपमे छानकर निकाल रहे है, [ममता इव अस्मै शूष] जैसे कि ममताने इस (अग्नि) के लिये अपना सुखकर स्तवन किया था।

(३)

पीपाय स श्रवसा मर्त्येषु यो अग्नये ददाश विप्र उक्थै ।
चित्राभिस्तमूतिभिश्चित्रशोचिर्व्रजस्य साता गोमतो दधाति ॥

[स मर्त्येषु] मनुष्योके बीचमें वह मनुष्य [श्रवसा पीपाय] अन्त-प्रेरणाद्वारा पुष्ट होता है [य विप्र] जो कि प्रकाशयुक्त होता हुआ [अग्नये उक्थै ददाश] अग्निके लिये अपने शब्दोद्वारा देता है। [त] उस-को [चित्रशोचि] देदीप्यमान प्रकाशवाला अग्नि [चित्राभि ऊतिभि] अपनी प्रदीप्त सुरक्षाओद्वारा [गोमत व्रजस्य साता] प्रकाशकी गौओवाले बाड़ेके विजय करनेमें [दधाति] धारण करता है।

(४)

आ य पप्रौ जायमान उर्वी दूरेदृशा भासा कृष्णाध्वा।
अध बहु चित्तम ऊर्म्यायास्तिरः शोचिषा ददृशे पावकः ॥

[य कृष्णाध्वा] जो कृष्णवर्त्मा अग्नि [जायमान] अपने जन्मकालसे ही [उर्वी दूरेदृशा भासा आ पप्रौ] विस्तृत द्यावापृथिवीको अपने दूर-दूरतक देखनेवाले प्रकाशके द्वारा भर देता है, व्याप लेता है, [पावक] वह पवित्र करनेवाला [अध] अब [शोचिषा] अपनी दीप्त ज्वालाके द्वारा [ऊर्म्याया बहुतम चित् तिर] तरगायित रात्रिके बहुत अन्धकारको भी तिरस्कृत करके [ददृशे] दिखायी देता है।

'यहा हमें यज्ञमें 'घृत' के प्रतीकका सूत्र मिलता है। अन्योंकी तरह यह भी दुहरे अर्थमें प्रयुक्त हुआ है घृत अर्थात् 'घी' या जिसे कि हम कह सकते है 'प्रकाश-हवि'।

(५)

नू नश्चित्र पुरुवाजाभिरूती अग्ने रयिं मघवद्भ्यश्च धेहि।
ये राधसा श्रवसा चात्यन्यान्त्सुवीर्येभिश्चाभि सन्ति जनान्॥

[अग्ने] हे अग्ने! [नु न मघवद्भ्य च] तू हमारे लिये और धनके अधिपतियोंके लिये [पुरुवाजाभि ऊती] अपनी प्रचुरताओंसे भरपूर सुरक्षाओंके द्वारा [चित्र रयिं धेहि] चित्र-विचित्र प्रकारकी निधिको धारण करा, क्योंकि [यें] ये वे है जो कि [राधसा श्रवसा च सुवीर्येभि च] अपनी आढ्यता और अन्त प्रेरणा तथा वीर शक्तियोंसे [अन्यान् जनान् अति अभि सन्ति] अन्य लोगोको अतिक्रात किये हुए हैं।

(६)

इम यज्ञं चनो धा अग्न उशन् य त आसानो जुहुते हविष्मान्।
भरद्वाजेषु दधिषे सुवृक्तिमवीर्वाजस्य गध्यस्य सातौ॥

[अग्ने] हे अग्ने [य आसान हविष्मान् ते जुहुते] जिसे बैठा हुआ हविवाला तेरे लिये आहुत करता है [इम यज्ञ उशन्] उस इस यज्ञको चाहता हुआ तू [चन धा] आनन्दातिरेकको धारण करा। [भरद्वाजेषु सुवृक्ति दधिषे] भरद्वाजोमें पूर्ण पवित्रीकरणको स्थापित कर [गध्यस्य वाजस्य सातौ अवी] इष्ट ऐश्वर्यकी सप्राप्तिमे उनकी रक्षा कर।

(७)

वि द्वेषासीनुहि वर्धयेळा मदेम शतहिमा सुवीरा॥

[द्वेषासि वि इनुहि] सब विरोधी वस्तुओंको बिखेर दे, [इळा वर्धय] स्वत प्रकाशित वाणीको बढा। [सुवीरा] वीरोंके बलसे बलिष्ठ, [शतहिमा] सौ हेमन्तोतक जीते हुए [मदेम] हम आनन्दमग्न रहे।

सूक्त ११

(१)

यजस्व होतरिषितो यजीयानग्ने बाधो मरुता न प्रयुक्ति।
आ नो मित्रावरुणा नासत्या द्यावा होत्राय पृथिवी ववृत्या.॥

[इषित यजीयान्] इस विशेष कार्यसे भेजा हुआ और यज्ञके लिये सशक्त तू [यजस्व] यज्ञ कर, [होत] हे आवाहनके पुरोहित! [अग्ने] हे अग्ने! [मरुता न प्रयुक्ति बाध] मानो मरुतोंके प्रयुक्त बलसे तू विरोधियोको हटा दे। [मित्रावरुणा] मित्र और वरुणको, [नासत्या] यात्राके युगल देवों, अश्विनोको, [द्यावापृथिवी] द्यौ और पृथिवीको [न होत्राय आ ववृत्या] तू हमारी आहुतिके लिये फेर दे, आवर्तित कर दे।

(२)

त्व होता मन्द्रतमो नो अध्रुगन्तर्देवो विदया मर्त्येषु।
पावकया जुह्वा वह्निरासाऽग्ने यजस्व तन्व तव स्वाम्॥

[त्व न होता] तू हमारे लिये आवाहनका पुरोहित है, [मन्द्रतम अध्रुक्] आनदमे पूर्ण है और द्रोहरहित है, [मर्त्येषु अन्त देव विदथा] तू मनुष्योमें अन्त स्थित देव है जो ज्ञानके आविष्कार करनेवाला है [वह्नि आसा] तू वहन करनेवाला है अपने ज्वलद् मुखके साथ, [पावकया जुह्वा] पवित्र करनेवाली जुहू (आहुति खानेवाली) ज्वालाके साथ। [अग्ने] हे अग्ने! [तव स्वा तन्व यजस्व] तू अपने निजी शरीरका यजन कर, यज्ञद्वारा पूजन कर।

(३)

धन्या चिद्धि त्वे धिषणा वष्टि प्र देवाञ्जन्म गृणते यजध्यै।
वेपिष्ठो अङ्गिरसा यद्ध विप्रो मधु च्छन्दो भनति रेभ इष्टौ॥

[त्वे चित् हि धिषणा धन्या] तुझमें ही समग्र (बुद्धि) ऐश्वर्यपूर्ण है और यह [देवान् जन्म वष्टि] देवोंको, दिव्य जन्मको चाहती है [गृणते यजध्यै] जिससे कि शब्द बोला जा सके और यज्ञ किया जा सके, [यत् ह] जब कि [रेभ. विप्र अंगिरसा वेपिष्ठ] यह स्तोत्रगायक ज्ञानी, अंगिरसोंमें प्राज्ञतम [इष्टौ मधु छन्द भनति] यज्ञकृत्यमें अपना मधु-छन्द गाता है।

(४)

अदिद्युतत्स्वपाको विभावाऽग्ने यजस्व रोदसी उरूची।
आयु न यं नमसा रातहव्या अञ्जन्ति सुप्रयस पञ्च जनाः॥

[सु अदिद्युतत्] वह चमक उठा है [अपाक] वह हृदयसे बुद्धिमान् है [विभावा] विस्तृत प्रकाशवाला है, [अग्ने] हे अग्ने! [उरूची रोदसी] विशाल द्यौ और पृथिवीका, द्यावापृथिवीकी विशालताका [यजस्व] यजन कर। [य] जिस तुझे [सु प्रयस] जो तू उनकी सतुष्टिओ, तृप्तियोंको देनेवाला है [पचजना] सब पचजन [नमसा रातहव्या] समर्पणके नमनद्वारा जिन्होने हवि प्रदान की है ऐसे [आयु न अञ्जन्ति] जीवित जागृत प्राणीकी तरह (तुझको) अभिषिक्त करते है।

(५)

वृञ्जे ह यन्नमसा बर्हिरग्नावयामि स्रुग्घृतवती सुवृक्तिः।
अम्यक्षि सद्म सदने पृथिव्या अश्रायि यज्ञ सूर्ये न चक्षु॥

[यत् ह] जब कि [अग्नौ नमसा बर्हि वृञ्जे] अग्निमें समर्पणके नमनके साथ कुशा उखाड ली गयी है [घृतवती सुवृक्ति स्रुक अयामि] जब कि प्रकाश-हविसे पूर्ण पवित्रीकरणका चमस अपने कार्यमें लगा दिया गया है, [पृथिव्या सदने सद्म अम्यक्षि] जब कि पृथिवीके निवासस्थानमें अपने घरको पहुच लिया गया है [सूर्ये न चक्षु यज्ञ अश्रायि] और जैसे कि सूर्यमें चक्षु वैसे यज्ञने अपना आश्रयस्थान पा लिया है—

(६)

वशस्या न. पुर्वणीक होतर्देवेभिरग्ने अग्निभिरिधान ।
राय. सूनो सहसो वावसाना अति स्रसेम वृजन नाह. ॥

[सहस सूनो] हे शक्तिके पुत्र ! [अग्ने] अग्ने ! [होत] हे आवाहनके पुरोहित ! [पुरु-अनीक] अपने बहु.विध ज्वाला-सैन्यके सहित पुरोहित ! [अग्निभि देवेभि इधान] अपनी अग्निओंको देवोंसे प्रदीप्त करता हुआ तू [न राय दशस्य] हमे ऐश्वर्य प्रदान कर, [वावसाना] प्रकाशसे चमकते हुए हम [वृजन न अह अति स्रसेम] पाप और सघर्षके परे पहुच जाय।